अपनी ओरसे—

जैन साहित्यका अनुपम भाण्डार संस्कृत तथा प्राकृत भाषामें प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध है। जैन दर्शनकी सार्वभौमिक समीचीनता हृदयंगम करनेके लिये उपर्युक्त भाषाओंका सम्यक्‌ज्ञान नितान्त आवश्यक है। किन्तु साम्प्रतिक समयमें गरिमाशालिनी संस्कृत—प्राकृत भाषाएँ जनपक्षसे बहुत दूर निकल गयी हैं और इनका व्यवहारक्षेत्र एकदम सीमित एवं संकुचित होगया है। इनकी गति मंदसे मंदतम होती जारही है, प्रवाह कुंठित एवं क्षीण पड़ गया है।

प्रायः समस्त आधुनिक आर्य भाषाओंका आविर्भाव संस्कृतके उदरसे माना जा सकता है। समयके प्रभावसे विश्वकी उत्कृष्ट एवं महान् भाषा संस्कृत आज 'मृतभाषा' (Dead Language) संज्ञा धारण कर चुकी है। और इसीके गर्भसे उद्भूत आधुनिक आर्य भाषाएँ साहित्य उद्यानमें केलि—कल्लोल तथा अठखेलियां करती हुई, एक अनुपम सौष्ठव धारण कर प्रगति मार्गपर अनियंत्रित गतिसे प्रधावित हो रही हैं।

अतएव साहित्यको लोकप्रिय एवं लोकसुलभ बनानेके लिये आधुनिक आर्य भाषाओंका माध्यम आज अनिवार्य हो उठा है। भाषा-भाषियोंकी दृष्टिसे इनमें हिन्दी भाषा अग्रगण्य हैं। जैन दर्शनकी अलौकिक प्रोज्ज्वल रश्मि प्रभा संस्कृत प्राकृत साहित्य तक ही सीमित है। उसे सर्वग्राह्य बनानेके लिये, हिंदी भाषाके प्रशस्त राजमार्गपर उपविष्ट करना होगा। उसका शृंगार, युग प्रवृत्ति अनुरूप एकदम

वीरं वन्दे

पुष्प नं: ७.

जैनधर्ममें दैव और पुरुषार्थ।

लेखक

श्री० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी

श्रीमान् मान्यवर सेठ गुलाबचन्दजी टोंग्या–इन्दौरकी
उदार सहायता द्वारा प्रकाशित

'जैनमित्र' के ४२ वें वर्षके ग्राहकोंको भेंट

प्रकाशक

श्री वी० सार्वजनिक वाचनालय, इन्दौर

प्रथमावृत्ति] * [प्रति १२००

मूल्य–मनन

आधुनिक (Uptodate) रंगोंकी सहायतासे संपादित करना होगा। संकीर्णताका आवरण अब हट जाना चाहिये। धर्मको क्षुद्र जातीय परिधिमें आबद्ध कर रखना अनपेक्षित सिद्ध होचुका है।

इतिहास साक्षी है कि बौद्ध, मुस्लिम तथा ईसाई धर्म अपने व्यापक एवं सहज बोधगम्य सिद्धांतोंके द्वारा ही सार्वभौमिक रूप धारण कर सके। इनके अनुयायियोंने महान् त्याग एवं अपरिमित बलिदानकी दृढ़ भित्तिपर अपने दिव्य धार्मिक प्रासादोंका निर्माण किया। उनकी कर्मठता तथा कष्ट सहिष्णुता द्वारा धर्मका अपूर्व प्रचार हुआ। धर्मकी व्यापक प्रभावना हुई। यदि वे जातीय ठेकेदारी (Monopoly लेकर बैठे रहते तो आज उनकी संख्या भी हमारे ही समान उंगलियोंपर गिनी जाने लायक शेष रहती।

हमारे प्रकाण्ड धुरंधर विद्वान जैन दर्शनकी महान् सूक्ष्मताओं और विशेषताओंको कुछ शिक्षित लोगोंकी शास्त्रसभामें अभिव्यक्त कर पूर्णतया संतुष्ट हैं। इस प्रचारके युगमें उनकी यह क्षुद्र आत्म-तुष्टि उन्हें बरबस ही अकर्मण्यताकी ओर खींचे लिये जारही है। यही कारण है कि जैन दर्शनकी समीचीनता, योग्य प्रचारके अभावमें, आजतक अत्यन्त ही संकीर्ण वृत्तमें बद्ध रही।

आज हम पतनके गहरे गह्वरमें पड़े हुए जब कभी अपनी अतीत संस्कृतिके महत गौरवकी उत्तुंग श्रृंग मालाओंपर दृष्टिपात करते हैं तो उसकी जाज्वल्यमान पुंजीभूत ज्योतिके समक्ष हमारे नेत्र, चकाचौंधके कारण मिचसे जाते हैं, परन्तु हमारी वर्तमान परिस्थिति कितनी दयनीय एवं क्षोभजनक होरही है इसका हमें उद्भास तक नहीं। मोहकी

प्रकाशक
वीरेन्द्रकुमार सेठी बी. ए.,
प्रधानमंत्री,
श्री वीर सार्वजनिक वाचनालय,
गोराकुंड, इन्दौर।

वीर निर्वाण सं० २४६८

मुद्रक
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस,
गांधीचौक, सूरत।

गया है परन्तु ज्ञान उसको बालपन तकका है। हम एक काल एक ही इन्द्रियसे जानते हैं परन्तु हमको पांचों इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त ज्ञानकी धारणा बनी रहती है। यदि केवल जड़से जानना होता तो जाननेके पीछे ज्ञानका संचय नहीं रहता। कारण व कार्यका लम्बा विचार ज्ञानी आत्मा ही कर सक्ता है। एक बालकको भी अनुभव है कि मैं हाथसे छूकर, जबानसे चाखकर, नाकसे सूंघकर, आंखसे देखकर, कानसे सुनकर जानता हूं, शरीरादि द्वार हैं वे नहीं जानते हैं, मैं ही कोई जाननेवाला हूं जो आंख नाक आदिसे जानता हूं। आत्मा हरएकके अनुभवमें खूब आ रहा है। किसी भी मुर्दा या जड़ पदार्थमें अनुभव या वेदना feeling नहीं होती, किंतु सचेतन पदार्थमें होती है। क्योंकि जाननेवाला आत्मा शरीरमें है। आत्मा कभी मरता नहीं, शरीर बदलता है। नए पैदा हुए बालकको बहुतसा पहला संस्कार होता है। गर्भसे बाहर निकले हुए बालकको भूखकी वेदना होती है, वह रोता है, दूध मिलनेपर संतोषी होजाता है। यदि उसे कोई सतावे मारे तो दुःखी होता है, क्रोधमें भरजाता है। उसमें लोभ व क्रोध झलकते हैं वह पुराना ही संस्कार है। किसीने उसे सिखाया नहीं। शरीरमें आनेके पहले वह कहीं और शरीरमें अवश्य था। पूर्व जन्मके संस्कारवश एक स्कूलमें पढ़नेवाले बालक व एक ही माताके उदरसे निकले बालक कोई तीव्र बुद्धि रखते हैं कोई मन्द, कोई थोड़े कालमें बहुत याद करलेते हैं कोईको बहुत कालमें भी याद नहीं होता है। मूर्ख माता पिताओंकी संतान बुद्धिमान व विद्वान बन जाती है व विद्वान माता पिताकी संतान मूर्ख देखनेमें आती है। यह नियम नहीं है कि मूर्ख माता पिताकी

मानी जावे तो पुण्यरूपी दैवके निमित्तसे पुरुषार्थ सफल हुआ या पापके फलसे असफल हुआ, यह बात नहीं कही जासक्ती । क्योंकि एकसा काम करनेवाले कोई सफल होते हैं, कोई सफल नहीं होते हैं । यदि सर्वथा पुरुषार्थसे ही कार्यसिद्धि होजाया करे तो सर्व प्राणियोंके भीतर पुरुषार्थ विना चूक सफल होजाया करे । पापी जीव भी सुखी ही रहे, कभी कोई विघ्न बाधाएं ही नहीं आवें, सबका मनोरथ सिद्ध हो ।

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ ९१ ॥

भावार्थ—स्वामी दोनोंकी जरूरत बताकर यह कहते हैं कि जिस बातका बुद्धिपूर्वक विचार नहीं किया गया हो किंतु सुख दुःख विघ्न आदि होजावें उसमें मुख्यता दैवकी या पूर्वमें बांधे हुए अपने ही पुण्य पापकर्मके फलकी लेनी चाहिये । जो काम बुद्धिसे विचार-पूर्वक किया जाता है उसमें इष्ट व अनिष्टका होना अपने ही पुरुषा-र्थकी मुख्यतासे है । यद्यपि गौणतासे इष्टके लाभमें पुण्यकर्मकी व अनिष्टके होनेमें पापकर्मकी भी आवश्यक्ता है । दोनोंको परस्पर अपेक्षासे लेना चाहिये । क्योंकि कर्मका भावी उदय क्या होगा यह हमको विदित नहीं है इसलिये हमें तो हरएक कामको विचारपूर्वक करना चाहिये ।

दशवीं शताब्दीके प्रसिद्ध आचार्य श्री अमृतचन्द्र पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय ग्रंथमें कहते हैं—

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः ।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥ ९ ॥

भावार्थ—जब यह आत्मा आप ही अपने चैतन्यमई अशुद्ध भावोंमें परिणमन करता है तब उस समय भी पिछला बांधा हुआ पुद्गलमय कर्मका उदय निमित्त कारण पड़ता है।

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वं ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥१५॥
सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति ।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥११॥

भावार्थ—मिथ्या या विपरीत आशय या श्रद्धानको दूर करके व भलेप्रकार अपने आत्मतत्वका निश्चय करके जो उस गाढ़ निश्चयमें स्थिर होजाता है उस आत्मीक तत्वसे चलायमान नहीं होता है वही मोक्ष-पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय है। जब इस आत्मानुभवके प्रतापसे सर्व कर्मोंके आवरणसे रहित निश्चल चैतन्य भावको जो प्राप्त कर लेता है वह भलेप्रकार मोक्ष-पुरुषार्थकी सिद्धिको पाकर कृतार्थ या सिद्ध होजाता है।

विशेष—ऊपरके श्लोकोंका भाव यही श्री अमृतचन्द्राचार्यने बताया है कि संसारी आत्माके साथ अनादिसे पाप पुण्यरूपी दैवका प्रवाह रूपसे सम्बंध है, जैसे—बीजसे वृक्ष होता है फिर उस वृक्षसे बीज होता है फिर उस बीजसे दूसरा वृक्ष होता है, इसतरह बीज वृक्षकी अनादि संतान है, उसी तरह पिछले कर्मोंके उदयसे आत्माकी बाहरी व भीतरी अवस्था होती है, उस समय जैसे परिणाम होते हैं। जैसे कम या अधिक रागद्वेष मोह भाव होते हैं उनके अनुसार नए कर्मोंका फिर बंध होजाता है। भावोंके होनेमें इसका पुरुषार्थ भी

तंद्रिल निद्रामें मदहोश होगये हैं हम ! इस मधुर मूर्च्छनामें हमने अपना अस्तित्व तक विलीन कर दिया है ! परिणाम यह हुआ कि आज हमारी संस्कृति एवं स्थितिपर भी प्रश्न चिह्न लगने लगा है। यदि यही हालत कुछ समय तक रही तो कौन जाने हमारी संस्कृतिका नाम, विश्वकी कई महान् अतीत संस्कृतियोंकी भांति, सिर्फ इतिहासके पृष्ठोंको सुशोभित करनेकी वस्तु मात्र ही रह जाय !

अतएव हमें अब सुषुप्तिकी मधुर छलनासे जीवनको सचेत एवं जाग्रत करना होगा। जीवनसे प्रमाद तथा आलस्यका तिरोभाव कर उसे कर्मठता, चैतन्य एवं स्फूर्तिसे परिवेष्टित करना होगा। तभी हम अपने धर्म और संस्कृतिका अस्तित्व संसारमें कायम रख सकेंगे।

वर्तमान युगमें प्रचारके महत्वको मद्देनजर रख कुछ वर्ष पूर्व, हमने अपनी संस्थाके अंतर्गत प्रकाशन-विभागकी प्रस्थापना की थी। उसीके सदुद्योग एवं भगीरथ प्रयत्नसे हम "कविवर भूधरदास और जैन शतक" नामक एक साहित्यिक पुस्तिका हिंदी संसारके समक्ष प्रस्तुत कर सके थे, और जिसका स्वागत जैन एवं जैनेतर विद्वत्समाज द्वारा प्रचुर मात्रामें हुआ। हमने अपनेको प्रभूत सौभाग्यशाली समझा। फल स्वरूप हमारा उत्साह बढ़ा और हमने दृढ़ निश्चय कर लिया कि समय २ पर इसी प्रकारके लघु-गुरु प्रकाशनों द्वारा जैन साहित्यकी तुच्छ सेवा संपादित करते रहेंगे।

किन्तु विद्वानोंके सहयोगके अभावने तथा कुछ आर्थिक कठिनाइयोंने हमारे आयोजित तथा निर्धारित मार्गको अवरुद्ध कर दिया।

अंगूठी बनेगी, जबकि शुद्ध सोने या कुंदनसे शुद्ध अंगूठी बनेगी। हरएक द्रव्य गुणोंका समुदाय है। एक ही गुण द्रव्यमें नहीं होता है। यदि एक ही गुण हो तो द्रव्य और गुणमें कोई भेद नहीं हो। द्रव्य आधार है, गुण आधेय है, गुण सदा द्रव्यमें रहते हैं। जैसे मिश्री एक द्रव्य है उसमें मीठापन, सफेदी, खुरखुरापन आदि अनेक गुण हैं। मीठापन मीठी वस्तुको छोड़कर कहीं नहीं मिलेगा। सफेदी सफेद वस्तुमें ही मिलेगी।

मूल छः द्रव्य हैं, जैसा ऊपर बता चुके हैं। इन द्रव्योंमें कुछ गुण साधारण पाए जाते हैं। उन साधारण गुणोंकी अपेक्षा सब द्रव्य परस्पर समान हैं, विशेष गुणोंकी अपेक्षा छहों द्रव्योंमें भेद है।

द्रव्योंके साधारण गुण—छः ऐसे हैं जिनको जानना जरूरी है—

अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्व।

१—**अस्तित्व**—वह गुण है जिसके निमित्तसे द्रव्य सदा बना रहे, उसका कभी नाश नहीं हो। इसी गुणके निमित्तसे सब द्रव्य अनादि व अनंत हैं। बदलते हुए भी कभी मूलसे नाश नहीं होते हैं। इसीसे यह सिद्ध है कि सब द्रव्य अकृत्रिम हैं, किसीके बनाए हुए नहीं हैं, जैसा हम ऊपर बता चुके हैं। मूल द्रव्य कभी नहीं लोप होते हैं।

२—**वस्तुत्व**—जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यमें अर्थक्रिया हो, जो कुछ काम करे, बेकार न हो। हरएक द्रव्य कुछ न कुछ उपयोग रखता है। जैसे जीवका काम जानना है, परमाणुओंका काम पृथ्वी आदि बनाना है।

यही कारण है कि लगभग तीन वर्ष तक हम इस दिशामें कुछ भी उल्लेखनीय कार्य नहीं कर सके। एक अरसे बाद आज हम अपनी प्रकाशनमालाका द्वितीय सुमन लेकर आप लोगोंके समक्ष उपस्थित होरहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ परम श्रद्धेय श्री० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी द्वारा प्रणीत "जैनधर्ममें दैव और पुरुषार्थ" है। इस ग्रन्थमें ब्रह्मचारीजीने दार्शनिक तथा तात्विक सूक्ष्म सिद्धांतोंको अत्यन्त ही सरल प्राञ्जल भाषामें प्रतिपादित कर जन साधारणके लिये बोधगम्य बना दिया है। विषय प्रतिपादन शैली एकदम सरल स्वाभाविक है जिसमें बनाव शृंगारका बिलकुल अभाव है, कारण, लेखककी रुचि पाण्डित्य प्रदर्शनकी ओर कभी भी आकर्षित नहीं हुई। इस प्रकारके ग्रन्थोंकी आवश्यकता सामयिक दृष्टिसे कितनी महत्वपूर्ण है, यह बात आप लोगोंसे छुपी हुई नहीं है। विद्वान लेखककी कृतिके विषयमें कुछ लिखना अनधिकार चेष्टा मात्र होगी। हमें आशा ही नहीं अपितु ध्रुव विश्वास है कि हमारा यह प्रकाशन स्तुत्य एवं श्लाघनीय समझा जावेगा।

ग्रन्थ-प्रणेताके परिचयकी कोई आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मचारीजीका नाम कौन नहीं जानता? जैन साहित्यकी जो निस्पृह सेवा आपने की है वह अभूतपूर्व है। प्रस्तुत ग्रन्थका सृजन ब्रह्मचारीजीने अपनी भीषण रुग्णावस्थामें किया है। आप कंप व्याधिसे पीड़ित हैं। रात्रिके अंतिम चरणमें जब कि इस व्याधिका प्रकोप आंशिक रूपसे शांत होजाता है, जाग जागकर

जितना प्रगट रहता है वह आत्माका पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थसे और दैवसे भीतर टक्कर हुआ करती है। यदि ज्ञान व वीर्य प्रबल होते हैं तो मोहके विकारको या कषायको जीत लेते हैं। यदि वे निर्मल होते हैं तो उनको मोहके आधीन होना पड़ता है। तीव्र व तीव्रतर कषायके उदयमें ज्ञान व वीर्यका जोर नहीं चलता है। परन्तु जब उनका उदय मन्द या मन्दतर होता है तब ज्ञान व वीर्यकी विजय होती है। तृष्णा या इच्छा मोहका विकार है। ज्ञान व वीर्य प्रबल हो तो इस तृष्णाको या इच्छाको जीत लेते हैं। जैसे मदिराके तीव्र वेग होनेपर आदमी बावला व बेखबर होजाता है। परन्तु मदिराका वेग कम होनेपर बावलापन दूर करके सावधान होजाता है और समझके साथ वर्ताव करने लगता है। मिथ्यात्व व कषायका उदय भी मदिराके वेगके समान है।

जैसे किसीको बीमारीकी दशामें रोगकारक वस्तुके खानेकी इच्छा हुई, ज्ञान बताता है नहीं खाना चाहिये। यदि आत्मवीर्य प्रबल होगा तो वह इस इच्छाको रोक लेगा, नहीं खाएगा, परन्तु यदि वीर्य कमजोर होगा तो वह इच्छाके वश होकर रोगकारक वस्तुको खालेगा। किसीको इच्छा हुई कि चोरी करलो व असत्यसे दूसरेको ठगलो, ज्ञान बताता है कि यह काम करनेयोग्य नहीं है। यदि वीर्य प्रबल होगा तो वह इस भावको रोक लेगा, वह चोरी न करेगा, न ठगेगा, परन्तु यदि वीर्य निर्बल हुआ तो वह चोरी व ठगी कर लेगा, भीतरी दैव मोह है इसका सामना करनेवाला ज्ञान व वीर्यका पुरुषार्थ है।

अंतराय कर्मके क्षयोपशमसे व जितना उसका उदय नहीं होता

उन्होंने इस ग्रन्थको पूर्ण किया। उनकी इस महान साहित्य साधनाका मूल्य क्या कभी आँका जासकता है? हम लेखक महोदयका किन शब्दोंमें आभार प्रदर्शित करें, जिन्होंने हमें इस उपयोगी ग्रन्थको प्रकाशित करनेकी अनुमति प्रदान की।

इस ग्रन्थके प्रकाशनका समस्त आर्थिक भार हमारी संस्थाके उदार तथा दानी संरक्षक **श्रीमान् सेठ गुलाबचंदजी टोंग्या (इंदौर)** ने स्वीकार किया है; यही कारण है कि इस मँहगाईके जमानेमें भी हम संस्थाके प्रकाशन विभागका द्वितीय पुष्प आप लोगोंकी सेवामें प्रस्तुत कर सके।

यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि "**कविवर भूधरदास और जैन शतक**" का प्रकाशन भी टोंग्याजीकी उदार आर्थिक सहायता द्वारा संपादित हुआ था। अतएव संस्थाकी ओरसे हम आपका आभार मानते हैं।

अन्तमें हम 'जैनविजय' प्रेस और 'जैनमित्र' कार्यालय सूरतको हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिन्होंने पुस्तक मुद्रण करनेका समस्त उत्तरदायित्व स्वीकार कर हमें कई झंझटोंसे उन्मुक्त किया। इसी सिलसिलेमें हम यह उल्लेख कर देना भी उचित समझते हैं कि यह ग्रन्थ हम 'जैनमित्र' के ४२ वें वर्षके ग्राहकोंको उपहार स्वरूप वितरित कर रहे हैं, ताकि पुस्तकका समुचित उपयोग संभव होसके।

कार्तिक सुदी ५
वीरसंवत् २४६८
ता० २४-१०-४१

मन्नालाल गंगवाल
भूतपूर्व प्रधान मन्त्री,
श्री वीर सार्वजनिक वाचनालय–इन्दौर।

इस तरह दैव या कर्मका प्रवाहरूपसे अनादिकालीन संयोग इस संसारी आत्माके साथ होरहा है। इसीलिये स्वाभाविक गुण शुद्ध तथा पूर्ण प्रगट नहीं हैं, अपूर्ण व अशुद्ध ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त, चारित्र, वीर्य व सुख गुण प्रगट हैं इसीलिये इनको विभाव कहते हैं। मोहनीय कर्मका फल मदिराके समान मोह या प्रमाद या असावधानी या कषाय भावोंको पैदा कर देना है। उन मोहमई विभावोंके कारण साधारण रूपसे जगके प्राणी अपनी आत्माके मूल शुद्ध स्वभावको भूले हुए हैं व संसारके भीतर फंसे हुए अहंकार ममकार कर रहे हैं। कर्मके फलसे जो आत्माके विभाव दशा होती है वही मैं हूं, यह अहंकार है। जैसे—मैं क्रोधी, मैं मानी, मैं मायावी, मैं लोभी, मैं सुखी, मैं दुखी।

जो वस्तु अपनी नहीं है पर है उसको अपनी मानना ममकार है। जैसे—मेरा शरीर है, मेरा घर है, मेरा परिवार है, मेरा पुत्र है, मेरा ग्राम है, मेरा देश है, मेरी संपत्ति है, इस अहंकार ममकारमें फंसा हुआ रात दिन कर्तापनेका भाव किया करता है। यद्यपि निश्चयसे या स्वभावसे यह आत्मा पर भावका या पर पदार्थका करनेवाला नहीं है तौभी मोही अज्ञानी जीव ऐसा माना करता है—मैंने शुभ या अशुभ भाव किये, मैंने प्राणियोंको दु.ख व सुख पहुंचाया, मैंने भला किया मैंने वुरा किया, मैंने घटपट मकान गहना वर्तन आदि वनाया, मैंने तप किया, मैंने जप किया, मैंने दान किया, मैंने पूजा की, मैंने परोपकार किया; इस तरह अपने आत्माको पर या अशुद्ध भावोंका कर्ता माना करता है। तथा व्यवहारमें ऐसा ही कहा जाता है व

विषयसूची ।

अध्याय पहला ।

दैव व पुरुषार्थकी आवश्यकता ।

अध्याय दूसरा ।

आत्माका स्वभाव व विभाव ।

अध्याय तीसरा ।

दैवका स्वरूप व कार्य ।

ग्रहण नहीं कर सकते हैं । जगतके प्राणियोंका विभाग प्राणोंकी अपेक्षा नीचे प्रकार है—

प्राण दश होते हैं—पांच इन्द्रिय प्राण, काय बल, वचन बल, मन बल, प्राण, आयु, उच्छ्वास । जिनसे कोई जीव स्थूल शरीरमें जाकर कुछ काम कर सके उन शक्तियों (Vitalities) को प्राण कहते हैं ।

एकेन्द्रिय प्राणी—जैसे पृथ्वीकायधारी, जलकायधारी, अग्निकायधारी, वायुकायधारी, वनस्पतिकायधारी, Vegitables इन पांच प्रकारके स्थावर कायवालोंके एक स्पर्शनइन्द्रिय होती है, जिससे छू करके ही जानते हैं । इनके चार प्राण पाए जाते हैं—१ स्पर्शनइन्द्रिय, २ कायबल, ३ आयु, ४ उच्छ्वास ।

द्वीन्द्रिय प्राणी—जैसे लट, केचुआ, कौड़ी, संख, सीप । इनके स्पर्शन व रसना दो इन्द्रियां होती हैं, ये छूकर व खाकर जानते हैं । इनके प्राण छः होते हैं । एकेन्द्रियके चार प्राणोंमें रसना इन्द्रिय व वचनबल बढ़ जाते हैं ।

तेन्द्रिय प्राणी—जैसे चींटी, खटमल, जूं, इनके स्पर्शन, रसना, नाक तीन इन्द्रिय होती है। ये छूकर, खाकर व सूंघकर जान सक्ते हैं इनके प्राण सात होते हैं एक नाक इन्द्रिय बढ़ जाती है ।

चौन्द्रिय प्राणी—जैसे मक्खी, भौंरा, पतंग, भिड़ इनके स्पर्शन, रसना, नाक, आंख चार इन्द्रियें होती हैं। ये छूकर, खाकर, सूंघकर व देखकर जान सक्ते हैं। इनके प्राण आठ होते हैं। एक आंख बढ़ जाती है।

पंचेन्द्रिय प्राणी असैनी—जैसे पानीमें रहनेवाले कोई २

\+ + +

शुद्ध करके पढ़ें—

इस पुस्तकमें पृ० २ लाईन २१ में Lifeless bodies or Dead bodies की जगह पर Living bodies पढ़ें।

मूल कर्मप्रकृति आठ हैं।

दशा होती है, चार घातीय कर्म हैं, जो भीतरी भावोंको विकारी बनाते हैं, जिनका कथन पहले कर चुके हैं। शेष चार **अघातीय कर्म** हैं जो आत्माके विशेष गुणोंको विकारी नहीं बनाते हैं; किन्तु संसारी अवस्थाके बाहरी साधन बनाते हैं वे हैं—१ **आयुकर्म**—जिसके उदयसे प्राणी स्थूल शरीरमें कैद रहता है—नर्क, तिर्यंच (पशु), मनुष्य, देव चार गतिमेंसे किसीमें जाकर शरीरमें स्थिति पाता है। जब काल पूरा हो जाता है तब गतिको या स्थूल शरीरको त्यागना पड़ता है। फिर मरकर यदि दैवका संयोग नहीं मिटा तो दूसरी गतिमें जाता है। जन्म मरणका कारण आयुकर्म है।

२—**नामकर्म**—जिसके उदयसे शरीरकी रचना अच्छी या बुरी, पुष्ट या निर्बल, सुहावनी या असुहावनी नाना प्रकारकी बनती है। शरीरका नकशा बनानेका कारण यह कर्म है।

३—**गोत्रकर्म**—जिसके उदयसे ऊंच या नीच कुलमें प्राप्त होता है। बीजके अनुसार शरीर बनता है। उस बीजको प्राप्त करानेवाला व बीजकी समानताको रखनेवाला गोत्रकर्म है। जैसे आमके बीजसे आम ही पैदा होंगे, गेहूंके बीजसे गेहूं ही पैदा होंगे।

४—**वेदनीयकर्म**—जिसके उदयसे साताकारी या असाताकारी बाहरी पदार्थोंका निमित्त मिलता है। जिसके होनेपर सुख या दुःखकी वेदना होती है।

जैन कर्मसिद्धांतमें चार घातीय व चार अघातीय इन आठ कर्मोंके बढ़नेका क्रम इस प्रकार है:—१—ज्ञानावरण, २—दर्शनावरण,

(४) वस्त्र आभूषण, मकान उपवनादि उपभोगोंको भोगनेमें विघ्न करना।

(५) किसीके उत्साहको भंग कर देना। शुभ काम भी न करने देना।

पाप-पुण्य भेद।

इन आठ कर्म-प्रकृतियोंमें चार घातीयकर्म ज्ञानावरणादि पाप हैं। क्योंकि ये आत्माके गुणोंको रोकते हैं, इन चारोंके बन्धके कारण भाव भी अशुभ हैं। चार अघातीय कर्मोंमें शुभ तीन आयु तिर्यंच मनुष्य देव, शुभनाम, उच्च गोत्र, सातावेदनीय कर्म पुण्य हैं। शेष वचे नरक आयु कर्म, अशुभ नाम, नीच गोत्र, असातावेदनीय पाप हैं। इनके कारण भाव भी क्रमसे शुभ व अशुभ हैं।

साधारण नियम यह है कि जबतक किसी कर्मका बन्ध क्षय न हो तबतक आयु कर्मको छोड़कर सात कर्मोंका बन्ध एकसाथ होता है। आयु कर्मका बन्ध जीवनमें आठ दफे या मरनेके पहले होता है तब एकसाथ आठों कर्मोंका बन्ध होता है। बन्धके कारण भावोंको दो भेदोंमें रक्खा जाता है—शुभभाव good thought अशुभभाव bad thought मंदकषायरूप भावोंको शुभ व तीव्र कषायरूप भावोंको अशुभ कहते हैं। जैसे दान देनेमें मंद कषाय रूप शुभ राग होनेसे शुभ भाव है, जब कि चोरी करनेमें तीव्र कषाय रूप अशुभ राग होनेसे अशुभ भाव है। दोमेंसे एक प्रकारका भाव एक समय एक जीवमें होगा।

जब अशुभ भाव होगा तो अघातीय कर्मोंमें शुभ आयु, नाम, गोत्र, सातावेदनीय कर्मका बंध न होकर अशुभ आयु, अशुभ नाम,

श्रीवीतरागाय नमः।

जैनधर्ममें दैव और पुरुषार्थ।

अध्याय पहला।

दैव व पुरुषार्थकी आवश्यक्ता।

मंगलाचरण।

वीतराग विज्ञान मय, परमानन्द स्वभाव।
नमहुं सिद्ध परमात्मा, त्याग ममत्व विभाव॥१॥
परम धर्म पुरुषार्थसे, साध मोक्ष पुरुषार्थ।
अविनाशी कृतकृत्यको, ध्याऊं कर पुरुषार्थ॥२॥
कर्म-दैवकी सैन्यको, धर्म खड्गसे चूर।
सिद्ध किया निज कार्यको, नमहुं होय अघ दूर॥३॥

जगतमें दैव और पुरुषार्थ दोनों प्रसिद्ध हैं। दैवको भाग्य, अदृष्ट, कर्मका फल, किस्मत, करणी, तकदीर, fate फेट, आदि नामोंसे कहते हैं। और पुरुषार्थको उद्योग, प्रयत्न, तदवीर, परिश्रम, उत्साह, कोशिश आदि नामोंसे पुकारते हैं।

जब कोई किसी कामको सिद्ध कर लेता है तब पुरुषार्थकी दुहाई दी जाती है। जब कोई काम बिगड़ जाता है या विघ्न आ जाता है तब दैवको याद किया जाता है। दोनों बातें जगतमें प्रचलित हैं। इन दोनों बातोंकी आवश्यक्ता तब ही होगी जब दोनों बातें सिद्ध हों।

जो लोग केवल जड़वादी हैं, जो जाननेवाले आत्माको जड़से

वज्रनाराच सं०—वज्रके समान कीलें व हाड़ हों, नशोंके जाल वज्र समान न हों ।

नाराच सं०—हाड़ोंमें दोनों तरफ कीलें हों ।

अर्धनाराच सं०—हाड़ोंमें एक तरफ कीले हों ।

कीलित सं०—हाड़ परस्पर कीलित हों ।

असंप्राप्तासृपाटिका सं०—हाड़ मांससे जुड़े हों ।

८—स्पर्श—जिनके उदयसे आठ प्रकारका स्पर्श हो—

कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण ।

५—रस—जिनके उदयसे ५ प्रकार रस हो—

तिक्त, कटुक, कषाय, आम्ल, मधुर ।

२—गंध—जिनके उदयसे सुगंध व दुर्गंध हो ।

५—वर्ण—जिनके उदयसे रंग ५ प्रकार हो—शुक्ल, कृष्ण, नील, रक्त, हरित् ।

४—आनुपूर्वी—जिनके उदयसे चार गतिमें जाते हुए विग्रह गतिमें पूर्व शरीरके आकार आत्माका आकार रहे—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव । जैसे कोई मानव मरकर तिर्यंच गतिमें जावे, जबतक न पहुंचे, विग्रहगतिमें तिर्यंचगत्यानुपूर्वीके उदयसे मनुष्यका आकार बना रहे ।

१—अगुरुलघु—जिसके उदयसे शरीर न बहुत भारी हो न बहुत हलका हो ।

१—उपघात—जिसके उदयसे अपने शरीरसे अपना घात हो ।

१—परघात—जिसके उदयसे अपने शरीरसे पर शरीरका घात हो ।

१—आतप—जिसके उदयसे परको आतापकारी शरीर हो ।

२—उद्योत—जिसके उदयसे शरीरमें प्रकाश हो ।

अलग नहीं मानते हैं, जिनके मतमें जीवन प्रवाह मरनेके बाद बिलकुल बुझ जाता है, जो जड़से ही चेतनकी उपज मानते हैं व शरीरके नाशके साथ उस चेतनका भी नाश मानते हैं वे सब केवल एक पुरुषार्थको ही मानते हैं। वे भाग्यको या पाप पुण्य कर्मको व उनके फलोंको नहीं मानते हैं। जब कोई काम सफल हो जाता है तब पुरुषार्थकी ही महिमा गाते हैं। जब कोई काम बिगड़ जाता है तब पुरुषार्थकी भूल ही मानते हैं। कभी कभी वे कामके बिगड़नेपर व विघ्न आ जानेपर अकस्मात् ऐसा होगया ऐसा कहते है, तौ भी वे किसी अदृष्ट कारणको नहीं मानते हैं।

जो लोग जाननेवाले आत्माको मानते हैं, चाहे वे उसकी भिन्न२ शरीरमें भिन्न २ सत्ता मानते हों या किसी एक ईश्वर या ब्रह्मका अंश मानते हों, चाहे वे आत्माका बारबार पुनर्जन्म मानते हों या मरनेके बाद एक दफे कभी अपने अच्छे या बुरे कामका फल पाना मानते हों, ऐसे लोग पुरुषार्थके साथ साथ दैव या भाग्य या पाप पुण्यको भी मानते हैं। इस मतके माननेवाले बहुत हैं। हमारी रायमें केवल जड़ ही जड़ हो व जड़से चेतन पैदा होता हो यह बात ठीक नहीं है। चेतनशक्ति बहुतसे जड़ पदार्थोंमें नहीं पाई जाती है।

चेतन जड़से भिन्न है।

जिन जड़ पदार्थोंमें चेतनशक्ति पाई जाती है उनको सचेतन या चेतन सहित जड़ कहते हैं। जिनमें चेतन शक्ति नहीं पाई जाती है उनको अचेतन या चेतन रहित जड़ कहते हैं। सचेतन पदार्थ lifeless bodies or dead bodies जानते हैं, समझसे कुछ काम करते

१–उच्छ्वास—जिसके उदयसे श्वास चले।

२–विहायोगति—जिसके उदयसे गमन हो वह प्रशस्त (सुहावना), अप्रशस्त (असुहावना) दो प्रकार है।

१–प्रत्येक शरीर—जिसके उदयसे एक शरीर एक आत्माका भोग्य हो।

१–साधारण शरीर—जिसके उदयसे एक शरीर बहुत आत्माओंका भोग्य हो।

१–त्रस—जिसके उदयसे द्वेन्द्रियसे पञ्चेन्द्रिय तकमें जन्मे।

१–स्थावर—जिसके उदयसे एकेन्द्रियमें जन्मे।

१–सुभग—जिसके उदयसे शरीर दूसरेको प्रिय लगे।

१–दुर्भग—जिसके उदयसे शरीर दूसरेको प्रिय न लगे।

१–सुस्वर—जिसके उदयसे सुन्दर स्वर हो।

१–दुःस्वर—जिसके उदयसे स्वर सुरीला न हो।

१–शुभ—जिसके उदयसे रमणीक सुन्दर शरीर हो।

१–अशुभ—जिसके उदयसे अशुभ असुन्दर शरीर हो।

१–सूक्ष्म—जिसके उदयसे बाधारहित शरीर हो।

१–बादर—जिसके उदयसे बाधाकारी शरीर न हो।

१–पर्याप्ति—जिसके उदयसे आहारादि पर्याप्ति पूर्ण हो।

१–अपर्याप्ति—जिसके उदयसे कोई पर्याप्ति पूर्ण न हो। पर्याप्ति छः होती हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, उच्छ्वास, भाषा, मन। एकेंद्रियके पहली ४, दो इन्द्रियसे असैनी पंचेंद्रियतक ५ सैनीके ६। अन्तर्मुहूर्तमें इनके बननेकी शक्ति पैदा होती है।

१–स्थिर—जिसके उदयसे शरीरमें धातु आदि स्थिर हो।

१–अस्थिर—जिसके उदयसे शरीरके धातु आदि स्थिर न हो

हैं, याद भी रखते हैं, हितकी तरफ दौड़ते हैं या सरकते हैं, अहितसे हटते हैं, सुख व दुःखका स्वाद लेते हैं, जबकि अचेतन पदार्थ lifeless bodies or dead bodies कुछ भी नहीं समझते हैं, न हित अहितका विचार कर सक्ते हैं न सुख दुखका ही अनुभव कर सक्ते हैं। हमारे सामने बढ़नेवाले व फलनेवाले वृक्ष हैं जो पानी हवा मिट्टीको घसीटते हैं। लट, केचुआ, चींटी, मच्छर, मक्खी, मछली, कुत्ता, बिल्ली, गाय, भैंस, हिरण, घोड़ा, हाथी, ऊंट, कव्वा, मोर, कबूतर आदि जन्तु हैं जो बराबर अपना हित ढूंढते हैं, अहितसे भागते हैं, सुख दुःख अनुभव करते हैं। आदमी तो स्वयं जानते हैं कि उनमें कितनी विशाल बुद्धि है, जो बड़े २ कामोंको करनेकी बातें सोचते व हितको ढूंढते हैं। ये सब सचेतन पदार्थ जब मरजाते हैं या चेतन शक्तिसे छूटजाते हैं तब वे समझकी कोई बात नहीं करसक्ते हैं। दूसरे अचेतन पदार्थोंके समान होजाते हैं।

चौकी, कलम, कुरसी, पलंग, घड़ा, बर्तन, कपड़ा, मेज, गाढ़ी, चटाई, कागज, छतरी, पाटी, आदि हैं जो मिट्टीके बने खिलौने हैं लोहेके बने कढ़ाए आदि हैं, ये सब अचेतन व जड़ हैं। इनमें चेतन-पनेकी कोई बात नहीं पाई जाती है। जगतमें न तो केवल जड़ पदार्थ हैं न केवल चेतन पदार्थ हैं। किन्तु चेतन व अचेतन पदार्थोंका समूह ही जगत है। बिना इन दो प्रकारके पदार्थोंको माने हुए दैव पुरुषार्थकी जोड़ी नहीं बन सक्ती है। यही बात सत्य भी है। आत्मा है, इसके समझनेके लिये बड़ा भारी प्रमाण तो अपना अपना अनुभव है।

हरएकको यह समझ है कि मैं जाननेवाला हूं, हरएकको अपने ऊपर बीती पुरानी बातोंकी याद है, एक वृद्ध पुरुष शरीरमें बच्च

पुण्य प्रकृतियोंके नाम।

१ सातावेदनीय, ३ आयु—तिर्यंच, मनुष्य, देव, १ उच्च गोत्र।

६३ नामकर्मकी—मनुष्यगति मनुष्य, गत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेंद्रियजाति, पांच शरीर, पांच बंधन, पांच संघात, तीन अंगोपांग, २० शुभ स्पर्श रस गन्ध वर्ण, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर=६८।

२० वर्णादिके स्थानपर ४ गिननेसे व ५ बन्धन ५ संघातको ५ शरीरमें गर्भित करनेसे ६८—२६=४२ पुण्य प्रकृतियें होती हैं।

पाप प्रकृतिमें—

४७ घातीय (५ ज्ञा० + ९ द० + २८ मो० + ५ अंतराय, नरकायु, असातावेदनीय, नीच गोत्र, ५ नामकर्मकी—नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय आदि चार जाति, न्यग्रोध परिमंडलादि पांच संस्थान, वज्रनाराचादि पांच संहनन, २० अशुभवर्णादि, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशः-कीर्ति=१००।

२० वर्णादिके स्थानपर ४ लेनेसे १००—१६=८४ होंगी। ४७ घातीयमेंसे मिश्र मोहनीय, सम्यक्त मोहनीय दो घट जाएंगी। क्योंकि इनका बंध नहीं होता है। बन्ध मिथ्यात्व दर्शन मोहनीयका

सात कर्मोंकी स्थितिमें आवाधाका यह नियम है । आयु कर्मकी आवाधा मरण पर्यंत काल है । जिस आयुको भोग रहा है उसकी वर्गणाएं समय समय झड़ रही हैं, आगेके जन्मके लिये जब आयुकर्म बंधेगा तबसे मरण तक उस बंधी आयुकी आवाधा है, मरते ही बंधी आयुका फल होने लगता है। जैसे कोई मानव, मनुष्य आयुको भोग रहा है, उसने आगेके लिये पशु आयु बांधी तो मरनेपर उस पशु आयुकी वर्गणाएं गिरेंगी तबतक उसका आवाधाकाल है ।

अनुभाग बंधका नियम—कर्ममें तीव्र या मंद फल दान शक्ति पड़ना अनुभाग बंध है। इसका नियम यह है कि तीव्र कषायसे पाप कर्मोंमें अनुभाग तीव्र व मंद कषायसे पापमें अनुभाग कम पड़ेगा। पुण्य कर्ममें तीव्र कषायसे अनुभाग कम व मंद कषायसे तीव्र पड़ेगा। जैसे कोई दान करनेका भाव कर रहा है तब मंद कषाय है, उस समय सातावेदनीय, शुभनाम व उच्च गोत्रका बंध पड़ेगा, उनमें अनुभाग रस तीव्र पड़ेगा, क्योंकि वे पुण्यकर्म हैं, उसी समय ज्ञानावरणादि चारों घातीय ये पापकर्म होनेसे अनुभाग कम पड़ेगा । कर्मोंमें अनुभाग या रस मंदतर, मंद, तीव्र, तीव्रतर चार तरहका पड़ता है । जैसा कषाय होगा वैसा मंद या तीव्र अनुभाग पड़ेगा ।

घातीय चार कर्मोंमें कठोर अनुभाग पड़ता है । क्योंकि वे आत्माके स्वभावके घातक हैं । चार प्रकार अनुभागका दृष्टांत लता, दारू (काठ), अस्थि (हाड़) व पाषाण हैं । लताके समान मन्दतर कठोर, दारूके समान मंद कठोर, अस्थिके समान तीव्र कठोर, पाषाणके समान तीव्रतर कठोर । अघातीय कर्मोंमें सातावेदनीय आदि

संतानें मूर्ख हों व विद्वान माता पिताकी संताने विद्वान हों। क्योंकि हरएक जीव अपने २ भिन्न २ संस्कारको लिये हुए जन्मता है। पूर्व जन्मके संस्कार वश कोई बुद्धिमान बालक एक दफे पढ़कर या देखकर याद कर लेते हैं, कोई २ बालक ऐसे सुने गए हैं जो विना पढ़ाए संस्कृत, पाली बोलते हैं, व गणित करते हैं, जरासा निमित्त पानेपर शीघ्र ही बहुतसे बालक अच्छे शिक्षित होजाते हैं जैसे प्रवीण गवैये, शिल्पकार, चित्रकार आदि। इसमें कारण पूर्व जन्मका संस्कार ही है। कविगण बहुधा संस्कारित ही होते हैं। आत्माकी सत्ता जड़से भिन्न माने विना पूर्वके संस्कार नहीं पाये जा सक्ते हैं। किन्हीं २ बालकोंको पूर्व जन्मकी बातोंका स्मरण भी होना सुना जाता है। यह भी सुननेमें आता है कि कोई व्यंतर देव किसी मानवको प्रगट होकर कहता है कि हम पहले जन्ममें अमुक मानव थे। बड़ी बात विचारनेकी यह है कि जड़ वस्तुओंमें चेतनशक्ति बिलकुल प्रगट नहीं है। (अचेतनता भलेप्रकार सिद्ध है,) तब उनके द्वारा ऐसी शक्ति पैदा हो जावे जो उनके मूल स्वरूपमें नहीं है, यह बात न्यायमार्गसे विपरीत है। हरएक कार्य अपने मूल कारण या उपादान कारणके अनुसार होता है, जैसे मिट्टीसे मिट्टीके वर्तन, सोनेसे सोनेके गहने, लोहेसे लोहेके वर्तन बनते हैं, मिट्टीसे चांदीके वर्तन नहीं बन सक्ते तथा जैसे गुण मूल पदार्थमें रहते हैं वैसे ही गुण उसके बने काममें प्रगट होते हैं। यदि जड़से आत्मा बनता तो जड़में चेतनपना प्रगट होना चाहिये था। सो किसी भी तरह नहीं दिखता है। इसलिये जो लोग जड़से अलग किसी अजर अमर चेतनताधारी पदार्थको मानते हैं उनकी बात

एकत्र करते हैं व स्वयं ही उन कर्मोंका फल दुःख सुख भोग लेते हैं। किसी ईश्वरके बीचमें पड़नेकी जरूरत नहीं है। हम ही कर्मोंके कर्ता हैं व हम ही उनके फलके भोक्ता हैं। यह हमारा विभाव मय कार्य हैं, स्वभाव नहीं। स्वभावसे हम पुण्य पाप कर्मोंके न कर्ता हैं न उनके फलके भोक्ता हैं।

१४८ कर्म प्रकृतियां हम गिना चुके हैं, इनका बंध अधिक व कम संख्यामें नाना प्रकारके जीवोंके होता है। जैसा २ पुरुषार्थी जीव कषायोंका बल घटाकर वीतराग या शांत परिणामी होता जाता है वैसे वैसे कम संख्यामें कर्मप्रकृतिएँ बंधती हैं।

चौदह गुणस्थान।

संसारी जीव चौदह श्रेणियों या दरजोंके द्वारा उन्नति करते हुए दैव या कर्मके बन्धसे छूटकर मुक्त या शुद्ध होते हैं। जैसे जैसे दरजा बढ़ता है, कषायकी कालस या मलीनता कम होती है वैसे वैसे कम संख्याकी कर्म प्रकृतियां बंधती हैं। किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है, इस बातके जाननेके लिये इनका जानना जरूरी है। इन आत्मोन्नतिकी श्रेणियोंके नाम इस क्रमसे हैं:—

(१) मिथ्यात्व, (२) सासादन, (३) मिश्र, (४) अविरत सम्यक्त, (५) देशविरत, (६) प्रमत्तविरत्त, (७) अप्रमत्तविरत्त, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) सूक्ष्मसांपराय, (११) उपशांत मोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगकेवली जिन, (१४) अयोगकेवली जिन।

इनमेंसे देव और नारकियोंमें पहले चार, तिर्यंचोंमें पहले पांच,

ठीक है, जड़वादी चार्वाकादिकी वात ठीक नहीं जंचती है।

पश्चिमके देशोंमें वड़े२ विद्वान हैं। कई विद्वानोंने आत्माको जड़से अलग माननेकी राय ही दी है—

पश्चिमके विद्वानों-का मत।

Sir Oliver Lodge Says: "I am convinced that we ourselves are not extinguished when we die. Personality continues. We ourselves in our own real essence do not decay or wear out, we continue in a permanent existence beyond the life of the material fleshly organism (appeared in Bombay Chronical 29-11-1926.)

भावार्थ—सर ओलाइवर लाज कहते हैं कि हम मरनेके वाद विला नहीं जाते हैं, हम वने रहते हैं। हम स्वयं अपने मूल स्वभावसे कभी नष्ट नहीं होते हैं न विगड़ते हैं, हम इस जड़ मांसमई शरीरके जीवनसे आगे भी अविनाशी जीवनमें वने रहते हैं (वम्बई क्रॉनिकल पत्र ता० २९-१२-१९२६)

Sir Oliver Lodge writes in "Raymond"—Death is the cessation of that controlling influence over matter and energy, so that thereafter the uncontrolled activity of physical and chemical forces supervene. Death is not the absence of life merely, the term signifies if departure in separation, the severence of the abstract principals from the concrete residue. The terms only truly applies to that which has been living.

Death, therefore, may be called a dissociation, a desolution, a separation of a controlling entity from a physico chemical organism, if can only be spoken of in general and vague term as a sepration of soul and body if the term 'soul' is reduced to its lowest denomination when used in connection with animals and plants.

भावार्थ—सर ओलाइवर लॉज अपनी पुस्तक रेमंडमें लिखते

मनुष्योंमें सब चौदह होते हैं। आजकल इस भारतके पञ्चमकालमें सात तक ही होते हैं। पांच गुणस्थान गृहस्थोंके, छठेसे बारहवें तक साधुओंके व अन्तिम दो केवली अरहन्त भगवानके होते हैं।

जैसे योग और मोह भावोंसे कर्मोंका बंध होता है वैसे ही योग और मोहकी अपेक्षासे ये गुणस्थान होते हैं। जितना मोह भाव कम होता है, जितना कषायका कम उदय होता है, गुणस्थानका दरजा बढ़ता जाता है। दर्शन मोहनीयकी मुख्यतासे पहले चार, चारित्र मोहनीयकी मुख्यतासे पांचसे बारह तक आठ, व अन्तके दो योगकी मुख्यतासे हैं।

(१) मिथ्यात्व—गुणस्थानमें मिथ्यात्व कर्मका व २५ चारित्र मोहनीयका उदय रहता है-सम्यक्त गुण मिथ्यात्व व अनंतानुबन्धी कषायके उदयसे या फलसे प्रगट नहीं होता है। इस श्रेणीमें प्रायः सर्व ही संसारी हैं, आत्माका ठीक श्रद्धान नहीं होता है। संसारासक्त भाव रहता है। कर्मके उदयसे होनेवाली भीतरी व बाहरी अवस्थाओंको ही आत्मा मान लेता है। मैं शुद्ध आत्मा हूं। सच्चा सुख आत्माका स्वभाव है यह प्रतीति नहीं होती है।

(२) सासादन—यह सम्यक्तसे गिरते हुए होता है। मिथ्यात्वका उदय नहीं है परन्तु शीघ्र ही होनेवाला है। अनन्तानुबंधी कषायके उदयकी मुख्यता है।

(३) मिश्र—इसमें सम्यक्त मिथ्यात्व मोहनीय मिश्र दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यात्वसे मिला हुआ सम्यक्तभाव होता है। २५ चारित्रमोहनीयमेंसे चार अनन्तानुबन्धी कषायका उदय नहीं होता है।

है " शरीर और शक्तिपर काबू रखनेवाले प्रभावका बंद होना ही मरण है । मरनेके पीछे काबूसे बाहर होकर शरीरकी शक्तियां बिखर जाती हैं । मरणसे मतलब केवल जीवनका अन्त नहीं है किंतु शरीरसे किसी जीवन शक्तिका अलग होना है । इसीको हम कह सक्ते हैं कि जो जीता रहा था वह अलग हो गया । इसलिये मरण शरीरके यंत्रसे काबू रखनेवाले पदार्थका छुट जाना है । साधारण शब्दोंमें आत्मा और शरीरका अलग होना है। यहां आत्मासे मतलब उन अति छोटे जन्तुओंसे भी है जिनको पशु और वृक्ष कहते हैं ।

Professor T. J. Hudson in his book "a scientific demonstration of future life" says "The subjective mind is a distinct entity. possessing in dependent powers and functions having a mental organisation of its own, and being capable of sustaining an existence independent of the body. In other words it is the soul.

भावार्थ—प्रोफेसर टी० जे० हडसन अपनी पुस्तकमें "साइन्टीफिक डिमान्ट्रेशन आफ फ्यूचर लाइफ" में लिखते हैं—जाननेवाला मन एक भिन्न पदार्थ है जिसमें उसकी अपनी स्वतंत्र शक्तियें हैं व क्रियाएं हैं । उसका मानसिक प्रबन्ध अपना ही है, वह शरीरसे जुदी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है । दूसरे शब्दोंमें यही आत्मा है ।

Professor Williem Macdongall in his book "Physiological Phychology" says:—" We are compelled to admit that the so called physical elements are partical affections of a single substance or being and since this is not any part of the brain, is not a material substance, but differs from all material substences. We must regard it as an immematerial substance or being.

(४) अविरत सम्यक्त—में व्रत रहित सम्यग्दर्शन होता है। आत्माके सच्चे स्वरूपका श्रद्धान होता है। स्वतंत्रताकी व मोक्ष पुरुषार्थके साधनकी रुचि होजाती है। आत्मानन्दका प्रेम होजाता है। यहां सम्यग्दर्शन तीन प्रकारका होसकता है। (१) उपशम—जब दर्शन मोहनीयकी तीन प्रकृति व चार अनंतानुबन्धी कषाय इन सातका उदय न होकर उपशम हो, दवाव हो। (२) क्षयोपशम या वेदक—सातवेंसे छःका उदय न हो, केवल सम्यक्त प्रकृति दर्शन मोहनीयका उदय हो, यह सातवें गुणस्थान तक रह सकता है। (३) क्षायिक—जब इन सातोंका क्षय हो, तब उत्पन्न सम्यक्त गुण प्रगट होता है वे कभी नाश नहीं होता है, मुक्त दशामें भी रहता है। उपशम सम्यक्त ग्यारह गुणस्थान तक रह सकता है।

(५) देशविरत—यहां अनंतानुबंधी कषायका व अप्रत्याख्यान कषायकी आठ चारित्र मोहनीयका उदय नहीं रहता है। इस गुणस्थानमें श्रावकका एकदेश चारित्र पाला जाता है उसकी उन्नतिरूप ग्यारह श्रेणियां या प्रतिमाएं हैं। जितना २ कषाय घटता है वैराग्य भाव बढ़ता है वैसे २ श्रेणी बढ़ती जाती है। उनके क्रम पूर्वक नाम हैं (१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषधोपवास, (५) सचित्ताहार त्याग, (६) रात्रिभोजन त्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भ-त्याग, (९) परिग्रह त्याग, (१०) अनुमति त्याग, (११) उद्दिष्ट त्याग।

(६) प्रमत्तविरत—यहां प्रत्याख्यानावरण कषायोंका भी उदय नहीं रहता है। चार संज्वलन तथा नौ नोकषायोंका १३ कषायका तीव्र उदय रहता है। यहांपर निर्ग्रंथ साधु वस्त्रादि परिग्रह रहित हो-

भावार्थ—प्रोफेसर विलियम मैकडोगल अपनी पुस्तक—"फीजिओलाजिकल सैकोलोजी" में लिखते हैं—हमको मजबूर होकर मानना पड़ता है कि अन्तःकरणके कार्य किसी एक पदार्थके कुछ काम हैं। यह पदार्थ मगजका कोई भाग नहीं है न यह कोई जड़ पदार्थ है। किन्तु यह सब जड़ पदार्थोंसे जुदा है। उसे हम एक अमूर्तीक पदार्थ या जीव मान सकते हैं।

हरएक आत्मा भिन्न २ है।

जहांतक बुद्धिसे विचार किया जाता है जड़से भिन्न चेतन शक्तिका मानना जरूरी व ठीक जंचता है। केवल जड़से चेतन शक्तिका काम नहीं हो सक्ता है। चेतन शक्ति हरएक शरीरधारी प्राणीमें स्वतंत्र व भिन्न २ है या एक किसी ईश्वर या ब्रह्मका अंश है। इस बातपर विचार किया जावे तो यही समझमें आता है कि हरएक चेतन शक्तिधारी आत्माकी सत्ता भिन्न २ है। क्योंकि एक ही कालमें जगतकी आत्माओंमें भिन्न २ भाव या कार्य देखे जाते हैं।

कोई शांत है तो कोई क्रोधी है, कोई अज्ञानी है तो कोई ज्ञानी है, कोई भक्ति करता है, कोई व्यापार करता है, कोई जागता है, कोई सोता है, कोई विद्या पढ़ता है, कोई विद्या पढ़ाता है, कोई जन्मता है, कोई प्राण त्यागता है, कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई रोता है, कोई हंसता है। यदि एक ही ईश्वर या ब्रह्मके अंश हों तो सब एकरूप रहने चाहिये। यदि ईश्वर शुद्ध व निर्विकार है तो सब प्राणी शुद्ध व निर्विकार रहने चाहिये। यदि ईश्वर अशुद्ध है व विकारी है तो सब अशुद्ध व विकारी रहने चाहिये। यदि

शुक्लध्यान रहता है। यहींपर दूसरा शुक्लध्यान होजाता है, जिसके प्रभावसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय तीन घातीय कर्मोंका नाश हो जाता है, तब चारों घातीयसे रहित होकर केवली अरहन्त हो सर्वज्ञ केवली जिन नाम पाता है।

(१३) **सयोगकेवली जिन**—अरहन्त परमात्मा होकर धर्मोपदेशका प्रकाश व विहार होता है। आत्मा सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी कहलाता है। अन्तमें तीसरा शुक्लध्यान होता है तब योग सूक्ष्म रहता है।

(१४) **अयोग केवली जिन**—योगरहित अरहन्त परमात्मा बहुत अल्प समयमें चौथे शुक्लध्यानके द्वारा शेष चार अघातीय कर्मोंका नाश करके मुक्त होकर सर्व शरीरोंसे रहित सिद्ध परमात्मा हो जाता है। गुणस्थानोंसे बाहर पूर्ण कृतकृत्य होजाता है।

आठवें गुणस्थानसे दो श्रेणियां हैं—(१) उपशम श्रेणी जहां चारित्र मोहनीयका उपशम होता है, क्षय नहीं होता है। उसके गुण-स्थान चार हैं—आठ, नौ, दश, ग्यारह। उपशांत मोहसे साधु फिर नीचे आता है, सातवें तक या और भी नीचे आ सकता है। क्योंकि अन्तर्मुहूर्त पीछे कषायका उदय होजाता है। (२) क्षपकश्रेणी जहां चारित्र मोहनीयका क्षय किया जाता है। जो इस श्रेणीपर चढ़ता है वह उसी शरीरसे मुक्त होता है। उसके भी चार गुणस्थान हैं। आठ, नौ, दश, बारह। इस श्रेणीपर चढ़नेवाला ग्यारहको लांघ जाता है। क्षीणमोह होकर फिर केवली अरहन्त होजाता है।

गुणस्थानोंमें प्रकृति बन्ध—१४८ कर्म प्रकृतियोंमेंसे बंधके

ईश्वर शुद्ध है परन्तु उसका अंश जड़से मिलकर अशुद्ध व विकारी हो जाता है तो ईश्वरके अंशमें विकार होनेसे ईश्वर अवश्य विकारी हो जायगा व उसे विकारका फल भोगना पड़ेगा। ईश्वर एक अमूर्तीक पदार्थ है इससे उसके खण्ड नहीं हो सक्ते। खण्ड या टुकड़े जड़ मूर्तीक पदार्थके ही हो सक्ते हैं जो परमाणुओंके बन्धसे बनते हैं। ईश्वर परम शुद्ध निर्विकार ही हो सक्ता है, उसमें स्वयं कोई इच्छा किसी काम करनेकी व किसीको बनानेकी व बिगाड़नेकी नहीं हो सक्ती है, न वह किसीके साथ रागद्वेष करता है, वह समदर्शी है, वह जड़में अपना अंश भेजे यह कल्पना नहीं हो सक्ती है। स्वयं शुद्धसे अशुद्ध बने यह बात संभव नहीं है। इसलिये यही बात ठीक है कि हरएक शरीरमें भिन्न २ आत्मा है।

लोक जड़ चेतनका समूह है व अनादि है।

यह लोक जड़ और चेतन पदार्थोंका अमिट समुदाय है। इसके भीतर सर्व ही पदार्थ सत् हैं, सदा ही बने रहते हैं। मूलसे न बनते हैं न बिगड़ते हैं। केवल अवस्थाएं ही बदलती हैं। इसलिये यह लोक भी सत् है, अनादि अनंत है, मात्र अवस्थाओंके बदलनेकी अपेक्षा एकसा नहीं रहता है।

दैव क्या है।

आत्मा हरएक शरीरमें भिन्न २ हैं तौभी एकसे नहीं विदित होते हैं। उनके अंतरंग स्वभावमें विचित्रता है उनके बाहरी संयोगमें विचित्रता है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये विकारी या अशुद्ध भाव या दोष हैं, क्योंकि इनके होनेपर शांतभाव नहीं रहता है तथा साधारणतया सर्व जगत

(३) मिश्रमें व्युच्छित्ति नहीं होती है ।

(४) अविरतमें १०—४ अप्रत्याख्यान कषाय, १ वज्र-वृषभनाराच संहनन, १ औदारिक शरीर, १ औदारिक अंगोपांग, १ मनुष्यगति, १ मनुष्यगत्यानुपूर्वी, १ मनुष्य आयु=१० ।

(५) देशविरतमें ४—४ अप्रत्याख्यान कषाय ।

(६) प्रमत्तमें ६—अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयशः-कीर्ति, अरति, शोक=६ ।

(७) अप्रमत्तमें—१ देवायु ।

(८) अपूर्वकरण—में ३६—१ निद्रा, १ प्रचला, १ तीर्थ-कर, १ निर्माण, १ प्रशस्त विहायोगति, १ पंचेंद्रिय, १ तैजस, १ कार्मण, १ आहारक शरीर, १ आहारक अंगोपांग, १ समचतुरस्र संस्थान, १ देवगति, १ देवगत्यानुपूर्वी, १ वैक्रियिक शरीर, १ वैक्रि-यिक अंगोपांग, ४ वर्णादि, १ अगुरुलघु, १ उपघात, १ परघात, १ उच्छ्वास, १ त्रस, १ बादर, १ पर्याप्त, १ प्रत्येक, १ स्थिर, १ शुभ, १ सुभग, १ सुस्वर, १ आदेय, १ हास्य, १ रति, १ भय, १ जुगुप्सा=३६ ।

(९) अनिवृत्तिकरणमें ५—पुरुषवेद, संज्वलन क्रोधादि चार ।

(१०) सूक्ष्म सांपरायमें १६—५ ज्ञानावरण, ४ दर्शना-वरण, चक्षु आदि ५ अन्तराय, १ यशःकीर्ति, १ उच्चगोत्र=१६ ।

(११) उपशांत मोहमें—०

(१२) क्षीणमोहमें—०

(१३) सयोगकेवलीमें १ सातावेदनीय ।

सर्व १२० इस तरह बंधसे चली गई ।

इनको बुरा ही मानता है। ये विकार किसीमें कम किसीमें अधिक पाए जाते हैं, एकसे नहीं मिलते हैं। इन चारों विकारोंके विरोधीभाव क्षमा, विनय, सरलता तथा संतोष भी पाए जाते हैं। ये भी किसीमें कम किसीमें अधिक दिखलाई पड़ते हैं। बाहरी अवस्थाएं भी एकसी नहीं हैं। किसीका शरीर सुन्दर. किसीका असुन्दर है, किसीका पुष्ट व किसीका निर्बल है, किसीका शरीर अधिक काल तक जीता है किसीका कम काल जीता है, किसीका जन्म धनिक व माननीय कुलमें किसीका दीन हीन व निन्दित कुलमें होता है, किसीको धन थोड़े परिश्रमसे मिलता है किसीको बहुत परिश्रम करनेपर भी धन नहीं मिलता है या कम मिलता है, किसीके संतान है किसीके नहीं है, किसीका अधिकार है किसीको चाकरी करनी पड़ती है. किसीको इच्छाके अनुकूल पदार्थ मिल जाते हैं किसीको नहीं मिलते हैं, किसीको इच्छाके विरुद्ध दुखदाई संयोग मिलते हैं, कोई वृद्धा या रोगी होना या मरना नहीं चाहता है तौभी वृद्धा व रोगी होना पड़ता है या शरीर छोड़ना पड़ता है। इत्यादि भीतरी व बाहरी विचित्र दशाएं जगतमें प्राणियोंकी दीख पड़ रही हैं। यह क्या कारण है कि कोई आत्मा मानवके शरीरमें जन्म धारता है, कोई पशुके, पक्षीके, मछलीके, मक्खीके, भ्रमरके, चींटी चींटेके, लट् आदिके शरीरमें जन्मता, है, कोई वृक्षके शरीरमें जन्मता है। हरएक जातिमें भी विचित्रता है। सब जंतु एकसे नहीं हैं। इन सबको देखकर दैव, भाग्य, तकदीर, किसमत या पुण्य–पापको मानना पड़ता है। हरएक संसारी आत्मा पुण्यके फलसे अच्छी व पापके फलसे बुरी अवस्थामें है। पुण्यके फलसे सुख व पापके फलसे दुःख होता है। पुण्यके

कथन अनेक प्रकारके जीवोंका समुच्चयरूपसे है। एक जीव एक प्रकारके भावसे इतने कर्म नहीं बांधता है। आठों प्रकारके मूल कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोंमें एकसाथ एकसमय बंधनेवाले समूहको **स्थान** कहते हैं। उनका कथन नीचे प्रकार है:—

(१) **ज्ञानावरणके** ५ भेद हैं। पांचोंका एक स्थान है। पांचों ही प्रकृतियां एकसाथ दशवें गुणस्थान तक बराबर बंधती रहती हैं। **—५ का स्थान १० वें तक।**

(२) **दर्शनावरणके** ९ भेद हैं, इसके तीन स्थान हैं— ९—६—४ नौका बंध दूसरे गुण० तक फिर स्त्यानगृद्धि, निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, तीन निद्रा कर्म विना छःका बंध अपूर्वकरणके प्रथम भाग तक फिर निद्रा प्रचला विना चारका ही बंध दसवें गुणस्थान-तक होगा। ९ का (२) तक ६ का ८ तक ४ का १० तक।

(३) **वेदनीयके** २ भेद हैं—एक समय साता वा असाता दोमेंसे १ यही बंध होता हैं। छठे गुण० तक कभी साता कभी असाताका फिर १ साताका ही बंध १३ वें गुणस्थान तक होता है।

साता या असाता (६) तक साता १३ तक।

(४) **मोहनीय कर्मके** बंधस्थान १० दश हैं। २२, २१, १७, १३, ९, ५, ४, ३, २, १।

(१) **मिथ्यात्व गुण०में** २२ का स्थान ६ प्रकारसे बंधता है—१ मिथ्यात्व कर्म + १६ कषाय + भय + जुगुप्सा + हास्य रति या शोक अरति दो युगलमेंसे एकका + तीन वेदमेंसे १ का = २२ १ तीन वेद × २ शीलकी अपेक्षा वे छः प्रकार इस तरह होंगे (१)

होनेपर काम सफल होजाता है, पापके होनेपर फिक्र या अन्तराय पड़ जाता है। जैसे हजार लोटों या वर्तनोंमें पानी भरा हो वह एकसा न दिखता हो भिन्न२ रंगका या मैला झलकता हो तो उसमें कारण रंग या मल या मिट्टीका संयोग ही है। यदि पानीके साथ दूसरी वस्तुका संयोग नहीं होता तो सब हजार लोटोंमें पानी एकसा ही दिखता, क्योंकि भिन्न२ रंग या मलका मिलाप है इसीलिये विचित्रता है। इसी तरह संसारी आत्माओंके साथ पाप पुण्यका या दैवका संयोग है इसीसे विचित्रता है। यदि पाप पुण्य या दैवका सम्बन्ध नहीं होता तो सब आत्माएं एकसी दिखलाई पड़तीं।

दैवका संयोग अनादिसे है।

जैन सिद्धांत वताता है कि इस अनादिकालके संसारके प्रवाहमें संसारी जीव अशुद्ध हो रहे हैं, कारण यही है कि इनके साथ एक सूक्ष्म शरीर है, जिसको **कार्मण शरीर** कहते हैं। यह इतना सूक्ष्म है कि पांचों इन्द्रियोंसे प्रगट नहीं है, अनुमानसे जाना जाता है। पाप या पुण्यकर्मके फलसे उस फलके कारण पाप पुण्यके होनेका अनुमान किया जाता है। क्योंकि अशुद्धता या मैल विना दूंसरी वस्तुके संसर्गके नहीं हो सक्ता है। यह सूक्ष्म शरीर कभी छूटता नहीं है। जब एक प्राणी स्थूल या वादर दीखनेवाले शरीरको त्यागता है या मरता है तब वह सूक्ष्म शरीरका त्याग नहीं करता है, वह जीवके साथ २ रहता है। जब कभी यह आत्मा मुक्त या स्वतंत्र होता है तब ही वह कार्मण शरीर विलकुल छूट जाता है।

वह कार्मण वर्गणा नामके सूक्ष्म जड़ स्कंधोंसे बनता रहता

२—अनिवृत्तिकरण द्वितीय भागमें ४ का स्थान है, पुंवेद विना ४ संज्वलन कषायका बंध होगा।

३—अनिवृत्तिकरण तृतीय भागमें ३ का बंध स्थान है, यहां क्रोधका बंध न हो, शेष ३ संज्वलनका बंध होगा।

४—अनिवृत्तिकरण—चतुर्थ भागमें २ का बंध स्थान है, वहां मानका बंध न हो, मात्र मायालोभका होगा।

५—अनिवृत्तिकरण पंचम भाग १ का बंध स्थान है। यहां मायाका बंध न हो, केवल संज्वलन लोभका बंध होगा। इस तरह मोहनीय कर्मके १० बंध स्थान ९ वें गुणस्थानतक होते हैं।

आगे गुणस्थानोंमें मोहनीय कर्मका बंध नहीं होगा।

नं० ५—आयुकर्म=एक जन्ममें एक जीव नवीन आयु एक ही प्रकारकी बांधता है, इसलिये आयुका एक ही बंधस्थान है।

नरकगति व देवगतिमें तिर्यंच या मनुष्यायुका बंध होगा, नरक और देवायुका बंध न होगा।

तिर्यंचगति मनुष्यगतिमें, नरक तिर्यंच मनुष्य देव चारोंमेंसे किसी आयुका बंध होसक्ता है।

नं० ६ नामकर्म—

नामकर्मके बंध स्थान ८ होते हैं—२३—२५—२६—२८—२९—३०—३१—१ अर्थात् एक जीव एक समयमें इनमेंसे किसी एक स्थानकी प्रकृतियोंका ही बंध करेगा।

(१) २३ का बंध स्थान—

एकेंद्रिय अपर्याप्ति सहित होगा अर्थात् जो इस स्थानको बांधेगा

सूक्ष्म कार्मण शरीर ।

है । उसमेंसे पुराने कार्मण स्कंध गिरते रहते हैं व नए मिलते रहते हैं । जगतमें कार्मण वर्गणाएं भरी हुई हैं । उनको संसारी आत्माएं अपने मन, वचन, कायके हलनचलनसे रागद्वेष मोह अशुद्ध भावोंके द्वारा संचय करते रहते हैं । जब अच्छे भाव होते हैं तब पुण्य कर्मोंका संचय होता है जब बुरे भाव होते हैं तब पाप कर्मोंका संचय होता है । जैसे चुम्बक पाषाण लोहेको घसीट लेता है वैसे आत्माके भाव व हलन चलनसे आत्मा कर्म व स्कंधोंको घसीट कर बांध लेता है ।

दैव स्वयं फलता है ।

वे कर्म स्वयं पककर कुछ काल पीछे झड़ने लगते हैं तब वे फल प्रगट कर सकते हैं, उसी फलको कर्मका या दैवका कार्य कहते हैं । उसी फलसे आत्मामें क्रोध, मान, माया, लोभ विकारी भाव होते हैं । उसी फलसे बाहरी अवस्था अच्छी या बुरी होती है या धन, संतान आदि शुभ संयोग या अहितकारी बुरे संयोग मिलते हैं । संसारी आत्माएं अपने ही अशुद्ध भावोंसे अपने दैवको बनाते हैं । यह वस्तुका स्वभाव है । जैसे गर्मीका कारण पाकर पानी स्वयं भाफ बन जाता है, वैसे हमारे भावोंका निमित्त पाकर पाप या पुण्यकर्म स्वयं संचय हो जाता है तथा यह स्वयं गिर भी जाता है । जैसे स्थूल शरीरमें हम निरन्तर हवा लेते हैं, निकालते हैं, सोते जागते, श्वास चलता रहता है । हम पानी पीते हैं; भोजन खाते हैं, हवा, पानी, भोजन शरीरमें जाकर स्वयं पकते हैं व रस, रुधिर, मांस, हाड़, वीर्य आदि धातुओंको बनाते

मनुष्य सहित होगा । इस तरह २५ के बन्ध ६ प्रकार हैं ।

नं० (३) २६ का बंधस्थान । इसके दो प्रकार होंगे—

(१) ऊपर २५ मेंसे त्रस अपर्याप्त मनुष्यगति मनुष्यगत्यानुपूर्वी पंचेंद्रिय जाति संहनन अंगोपांग इन ७ को निकाल कर स्थावर पर्याप्त, तिर्यंचगति, तिर्यंगत्यानुपूर्वी, एकेंद्रिय उच्छ्वास, परघात, आतप इन आठके जोड़नेसे २६ का बंध होगा । एकेंद्रिय पर्याप्त आतप सहित होगा ।

(२) ऊपर २६ मेंसे आतप निकालनेसे व उद्योत बढ़ानेसे २६ का बंधस्थान एकेंद्रिय पर्याप्त उद्योत सहित होगा ।

नं० (४) २८ का बंधस्थान । इसके २ प्रकार होंगे—

नं० १ प्रकार—देवगति सहित प्रकृतिएँ तैजस शरीर, कार्मण शरीर, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वर्णादि ४, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर अस्थिरमेंसे एक, शुभ अशुभमेंसे एक, सुभग, आदेय, यश अयशमेंसे एक, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेंद्रिय, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, प्रथम संस्थान, सुस्वर, प्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, परघात ।

नं० २ प्रकार—९ पूर्वोक्त तैजस आदि, त्रस, बादर, पर्याप्त प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्गम, अनादेय, अयश, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, हुंडक संस्थान, दुस्वर, अप्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, परघात । इनका बन्ध नरकगति सहित होगा ।

नं० (५) २९ का बंध स्थान । इनके ६ प्रकार होंगे—

नं० १—नवपूर्वोक्त (२८) में की तैजस आदि) त्रस, बादर,

हैं, उनकी यह क्रिया हमारे बुद्धिपूर्वक प्रयत्नके विना ही होती रहती है। वीर्य इनका अंतिम फल या सार है। उस वीर्यकी बदौलत या वीर्यके फलसे हमारा शरीर व हमारे शरीरके अंग उपांग काम करते रहते हैं। जैसे स्थूल शरीरमें स्वयं फल होजाता है वैसे सूक्ष्म कार्मण शरीरमें स्वयं फल होजाता है।

ईश्वर फलदाता नहीं।

कुछ लोगोंका यह मत है कि कोई ईश्वर पाप या पुण्यकर्मका फल देता है कर्म स्वयं फल नहीं देसक्ते क्योंकि कर्म जड़ हैं। इस वातपर विचार किया जावे तो यह वात ठीक समझमें नहीं आती है। ईश्वर अमूर्तीक शरीर रहित है, मन वचन काय रहित है, मनके विना यह किसीके पाप पुण्यके सम्बन्धमें विचार नहीं करसक्ता, वचनके विना दूसरोंको आज्ञा नहीं देसक्ता, कायके विना स्वयं कोई काम नहीं कर सक्ता है। वह सत्यदर्शी है, रागद्वेषसे रहित है। वह यदि जगतके अपूर्व जालमें पड़े तो वह स्वयं संसारी होजावे, विकारी होजावे। कुछ लोग पाप पुण्य कर्मका संचय भी नहीं मानते हैं, उनके मतसे ईश्वरको ही सब प्राणियोंके भले बुरेका हिसाव रखना पड़ता है। अमूर्तीक व शरीर रहित ईश्वरसे यह काम बिलकुल संभव नहीं है। यह सबका दफ्तर कैसे रख सक्ता है, यह बात कुछ भी समझमें नहीं आती हैं। दोनों ही बातें ठीक नहीं हैं कि पाप पुण्य कर्मका संचय होनेपर वह ईश्वर उनका फल भुगतावे या संचय न होनेपर ही वह ईश्वर सुख दुःख पैदा करे। ईश्वरमें दयावानपना भी व सर्वशक्तिमान-पना भी माना जाता है, तब ऐसा ईश्वर जिन जगतके प्राणियोंका

पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर अस्थिरमेंसे एक, शुभ अशुभमेंसे एक, दुर्भग, अनादेय, यश अयशमेंसे एक, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, २ इन्द्रिय, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, हुंडक संस्थान, असंप्राप्ता० संहनन, दुस्वर, अप्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, परघात, इनका बन्ध २ इन्द्रिय पर्याप्त सहित होगा।

नं० २ प्रकार—उपरोक्त प्रकारमेंसे २ इन्द्रिय निकाल कर तीन इन्द्रिय मिलानेसे २९ का बन्ध तीन इन्द्रिय पर्याप्त सहित होगा।

नं० ३ प्रकार—उपरोक्त २९ मेंसे तीन इन्द्रिय निकालकर चौइन्द्रिय मिलानेसे २९ का बंध चौइन्द्रिय पर्याप्तके सहित होगा।

नं० ४ प्रकार—उपरोक्त २९ में चौइन्द्रिय निकालकर पंचेन्द्रिय मिलानेसे २९ का बंध पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच सहित बंध होगा परन्तु यहां विशेषता यह है कि स्थिर अस्थिरमेंसे एक, सुभग दुर्भगमेंसे एक, शुभ अशुभमेंसे एक, आदेय अनादेयमेंसे एक, यश अयशमेंसे एक, ६ संस्थानमेंसे एक, ६ संहननमेंसे एक, सुस्वर दुस्वरमेंसे एक, अप्रशस्त प्रशस्त विहायोगतिमेंसे एक, किसीका बन्ध किसी जीवके होगा।

नं० ५ प्रकार—उपर्युक्त २९ मेंसे तिर्यंचगति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी निकालकर मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी मिलानेसे २९ का बंध मनुष्यपर्याप्ति सहित होगा।

नं० ६ प्रकार—९ तैजस आदि त्रस, बादर, प्रत्येक, पर्याप्त, स्थिर अस्थिरमेंसे एक, शुभ अशुभमेंसे एक, सुभग, आदेय, यश

स्वामी हो उसका कर्तव्य यह होना चाहिये कि जब कोई बुरा काम करनेका विचार करे तब ही उसके विचारको सुधार देवे, जिससे वह पाप काम नहीं कर सके। तब वह प्राणी उसका फल दुःख नहीं उठावे। समर्थ व दयालु पिताका तो यही कर्तव्य है कि अपने पुत्र पुत्रियोंको बुरे कामकी आगमें पड़ते हुए रोक दे। आगमें जलने ही न दे। यदि कोई पिता अपने पुत्रको कूयेमें गिरते हुए गिरनेसे बचावे नहीं, पीछे उसको गिरनेकी सजा दे। इस बातको कोई भी पिता नहीं करेगा न किसी पिताका धर्म हो सक्ता है।

जो मजिष्ट्रेट अपराधियोंको दंड दे सकता है वह रोक भी सकता है। रोकना पहला कर्तव्य है। यदि उसे मालूम हो कि कहीं चोर चोरी करनेवाले हैं तो वह उसको पहले ही पकड़ लेगा। चोरी करने नहीं देगा। यदि कोई मजिष्ट्रेट जानने पर भी किसीको बुरे कामसे रोके नहीं व पीछे बुरा काम होने पर सजा दे यह बात मजिष्ट्रेटके धर्मसे विरुद्ध है। दुनियाके मजिष्ट्रेट या न्यायाधीश अल्पज्ञानी व अल्प शक्तिधारी होते हैं, उनके ज्ञानके विना व रोकनेकी सामर्थ्यके विना मानव पाप या अपराध कर डालते हैं। जब मजिष्ट्रेटको अपराधियोंके अपराधका पता लगता है तब वह दंड देता है कि दूसरे भी कोई ऐसे अपराध न करें व यह अपराधी अपने अपराधका पछतावा करे। ईश्वर अंतर्यामी या घट घट व्यापी सर्वज्ञ है। उसको उसी समय मालूम हो जाता है जब कोई पाप करना सोचता है। सर्व शक्तिमान होनेसे वह तुर्त रोक भी सकता है। यदि ईश्वर ऐसा करे तो जगतमें कोई बुरा काम नहीं होवे। इसलिये जब बुरे काम होते हुए देखे जाते हैं

अयशमेंसे एक, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक आंगोपांग, प्रथम संस्थान, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वास, परघात, तीर्थंकर इन २९ का बंध देवगति तीर्थ सहित होगा। इस स्थानको चौथे गुणस्थानसे ७ वें गुणस्थान तकका मनुष्य ही बांध सकेगा।

नं० ६—३० का बंधस्थान, इसके ६ प्रकार होंगे—

नं० १ प्रकार—उपर्युक्त २९ के वन्धस्थान प्रकार १ में दो इन्द्रिय पर्याप्त सहितमें उद्योत मिलानेसे ३० का वन्धस्थान दो इन्द्रिय पर्याप्त उद्योत सहित होगा।

नं० २ प्रकार—२९ के नं० २ के वन्धस्थानमें उद्योत मिलानेसे ३० का वन्धस्थान तीन इन्द्रिय पर्याप्त उद्योत सहित होगा।

नं० ३ प्रकार—२९ के तीसरे प्रकारके वन्धस्थानमें उद्योत मिलानेसे ३० का वन्धस्थान चौइन्द्रिय पर्याप्त उद्योत सहित होगा।

नं० ४ प्रकार—२९ के चौथे प्रकारमें उद्योत मिलानेसे ३० का वन्धस्थान पंचेंन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच उद्योत सहित होगा।

नं० ५ प्रकार—२९ के ५ वें प्रकारमें तीर्थंकर मिलानेसे ३० का वन्धस्थान मनुष्य तीर्थ सहित होगा, जिसको देव नारकी असंयत गुणस्थानवाले बांध सकेंगे। विशेषता यह है कि स्थिर अस्थिरमेंसे एक, शुभ अशुभमेंसे एक, यश अयशमेंसे एक बांधेंगे।

नं० ६ प्रकार—२९ के छठे प्रकारमें तीर्थंकर निकाल कर

तब ईश्वरको फलदाता मानके न रोकनेका दोष नहीं दिया जा सक्ता। वह निर्विकार है, ज्ञाताद्रष्टा है, साक्षीभूत है, वह किसीको सुखदुःख देनेके झगड़ेमें नहीं पड़ता है। जैसा हम कह चुके हैं कि जैसे स्थूल शरीरमें स्वयं फल हो जाता है वैसे ही सूक्ष्म शरीरमें पाप या पुण्य कर्मका स्वयं फल हो जाता है। विष खानेपर प्राणी तुर्त मर जाता है, आगमें हाथ देनेपर तुर्त हाथ जल जाता है, कोई दूसरा मारता नहीं, कोई दूसरा जलाता नहीं। इसी तरह पाप पुण्य कर्मका फल स्वयं हो जाता है, कोई दूसरा देनेवाला नहीं है।

पुरुषार्थ क्या है?

पुरुषार्थ क्या वस्तु है? पुरुष आत्माको कहते हैं। आत्माका जितना स्वभाव या गुण प्रकाशित होता है उस स्वभावके वर्तनको या काम लेनेको पुरुषार्थ कहते हैं। आत्मा ज्ञानमई है व वीर्यवान है। जितना ज्ञान व वीर्य जिस आत्मामें प्रगट होता है वही व उतना ही उस आत्माका पुरुषार्थ है जिससे वह जाननेका व वीर्यके प्रकाशका काम करता है। मक्खी मीठेका पता जानती है, फिर उद्यम करके उसके पास जाती है, यही मक्खीका पुरुषार्थ है। हरएक प्राणीको भूख सताती है, वह अपनी भूखकी बाधाको जानता है, उसके मेटनेका उपाय जानता है व उस उपायके लिये यत्न करता है यही पुरुषार्थ है। देखनेमें आता है कि सर्व ही प्राणी अपनी भूखकी बाधा मेटनेको उपाय करते रहते हैं। यदि कोई भयकी शंका होती है तो भयसे बचनेका उपाय करते रहते हैं। ज्ञान और वीर्यका सर्व ही वर्तन पुरुषार्थ है जितना ज्ञान व वीर्य रुका हुआ है वह दैव या कर्मके फलका कार्य

नं० ५—देशविरत २८ देवसहित, २९ देव तीर्थ सहित ऐसे २ स्थान होंगे।

नं० ६—प्रमत्त २८ देवसहित, २९ देव तीर्थ सहित, ऐसे २ स्थान होंगे।

नं० ७—अप्रमत्त २८ देवसहित, २९ देव तीर्थ सहित, ३० आहारक सहित, ३१ आहारक तीर्थ सहित ऐसे ४ स्थान होंगे।

नं० ८—अपूर्वकरण ७ वेंके ४ वंधस्थान तथा एक यश ऐसे ५ वन्धस्थान होंगे।

नं० ९ अनिवृत्तिकरण एक यशका स्थान होगा।

नं० १० सूक्ष्मसांपराय यशका एक स्थान होगा।

नं० ७ गोत्रकर्म—इसके दो भेद हैं—१ नीच गोत्र, २ उच्च गोत्र। एक जीव एक समयमें दोमेंसे एक स्थान कोई बांधेगा।

नं० ८ अन्तरायकर्म—इसके ५ भेद हैं—५ प्रकृतिका स्थान मिथ्यात्व गुणस्थानसे १० वें गुणस्थान तक वन्ध होगा। इस तरह ८ कर्मोंकी उच्च प्रकृतियोंके बन्धस्थान जानने योग्य हैं। नीचे यह नकशा दिया जाता है जिससे विदित होगा कि १५ वन्ध योग्य प्रकृतिमेंसे हरएक गुणस्थानमें एक जीव एक समय कितनी प्रकृतियोंका वन्ध करेगा—

है। जितना २ कर्मका परदा हटता जाता है, ज्ञान स्वभाव प्रगट होता जाता है। एक बालक जब विद्या पढ़ने बैठता है तब बहुत कम जानता है, पढ़ते २ या पढ़नेके पुरुषार्थसे अज्ञानका परदा हटता जाता है ज्ञान बढ़ता जाता है। आत्मा वास्तवमें परमात्मारूप शुद्ध है, इसके साथ अनादिकालसे ही पाप पुण्यका सम्बन्ध है। इसी दैवके कारण यह अनादिकालसे अशुद्ध होरहा है। इसका स्वभाव बहुतसा ढक रहा है। जितना कर्मका परदा हटा है उतना ज्ञान और वीर्य प्रगट है। उसी ज्ञान और वीर्यसे वृक्षादि प्राणी छोटेसे लेकर बड़े तक सर्व ही जंतु, पशु, पक्षी, मानव काम करते रहते हैं।

दैवका पुरुषार्थपर असर।

किसी कामका पुरुषार्थ करनेपर जब सफलता होती है तब पुण्य कर्मरूपी दैवकी मदद होती है। जब काममें सफलता नहीं होती है तब पापकर्मका फल प्रगट होता है। पापकर्मरूपी दैवने अन्तराय या विघ्न कर दिया। बहुतसे आदमी एक ही प्रकारका व्यापार धनके लिये करते हैं। किन्हींको अधिक, किन्हींको कम धनका लाभ होता है। कारण यही है कि जिसका पुण्य अधिक उसको अधिक लाभ, जिसका पुण्य कम उसको कम लाभ होता है। किन्हींको धनके पैदा करनेका उपाय करनेपर भी धनकी हानि उठानी पड़ती है, कारण पापका फल है। किन्हींको नहीं। यह सब पुण्य पापका फल है। लाभ होना पुण्यका फल व हानि होना पापका फल है। हरएक आत्माके पास पुरुषार्थ और दैव दोनों हैं। दोनोंकी सत्ता बिना संसारका व्यवहार नहीं चल सकता है। यदि दैव या पाप पुण्य नहीं

ऊपरके नकशेसे विदित होगा कि मिथ्यात्व गुणस्थानधारी अज्ञानी जीव ऐसे कर्मोंको बांधता है जिससे दुर्गतिमें जाकर दुःख उठाता है। चौथे गुणस्थान व उससे आगेके गुणस्थानवाले ऐसे कर्म बांधते हैं जिससे वे देवगति या मनुष्य गतिमें उत्तम अवस्थाको प्राप्त करें। हमने भलीप्रकार बता दिया है कि यह संसारी जीव अपने ही अशुद्ध भावोंसे, रागद्वेष मोहसे, मन, वचन, काय और क्रोधादिक कषायोंसे ६ लेश्याओंसे स्वयं ही अपने दैवको या कर्मको बनाता है। कर्मवर्गणाओंका बंध या संचय किस प्रकार होता है यह बात भली प्रकार समझा दी गई है। दैव या कर्मका हिसाब रखनेवाला कोई ईश्वर या परमात्मा नहीं है, न उसके पास कोई दफ्तर है। यही जीव अपने भावोंसे कर्मका बीज बोता है अर्थात् पापपुण्यका संचय करता है। जैन सिद्धान्तमें विशेषकर गोम्मटसार कर्मकांडमें कर्मबंधका विस्तारपूर्वक वर्णन दिया हुआ है। यहां दिग्दर्शन मात्र बताया है। दूसरे दर्शनोंमें भी कर्मबन्ध पापपुण्य संचय, पापपुण्य बीज बोना, अपने भाग्यको आप बनाना, आदि बातें पाई जाती हैं, परन्तु इनका वैज्ञानिक स्पष्ट कथन जैन सिद्धान्तहीमें मिलता है। तात्पर्य यह है कि **हम ही अपने भाग्य या दैवको बनानेवाले हैं।**

कर्मबन्ध होनेके पश्चात् जबतक आत्माके साथ कर्म संचित रहता है, उस कालको सत्ता काल कहते हैं। जब कर्म फल देता हुआ झड़ता है तब उसको उदय काल कहते हैं। यह हम पहिले बता चुके हैं कि कर्मबन्ध होनेके पश्चात् आबाधाकाल बीतनेपर शेष रही स्थितिके समयोंमें कर्मबन्धका बंटवारा हीन क्रमसे होजाता है, और उस बंटवारेके अनुसार वे कर्मवर्गणायें अवश्य गिर जाती हैं, अनुकूल निमित्त

होता तो सर्व आत्माएं सर्वदा ही शुद्ध दिखलाई पड़तीं। सर्व ही सुखी रहते; मरण, रोग, शोक, वियोग आदि कष्ट नहीं होते। यदि पुरुषार्थ नहीं होता तो कोई भी कोई उद्यम नहीं करता। दोनोंका जगतमें काम है।

पुरुषार्थ व दैव दोनों हैं।

पुरुषार्थको ही जो केवल मानते हैं उनके मतसे हरएक प्राणीका पुरुषार्थ सफल ही होना चाहिये। उसमें कोई विघ्नबाधाएं नहीं होनी चाहिये। तथा विचित्रता आत्माओंकी होना दैव या पाप पुण्य विना संभव नहीं है। यदि केवल दैवको माना जावे, पुरुषार्थ न माना जावे तो हरएक प्राणीको वेकाम बैठना चाहिये। भाग्यमें होगा तो भोजन पान आदिका लाभ हो जायगा। पुरुषार्थ करनेमें जो अच्छे या बुरे भाव होते हैं उन ही से दैव या पुण्य पाप बनता है। पुरुषार्थ विना दैव नहीं हो सक्ता। यदि दैव ही दैव माना जावे तो कोई आत्मा कभी पाप पुण्यके वंधनसे छूटकर मुक्त नहीं होसक्ता है। पुरुषार्थ ही के वल जब कोई विवेकी वैराग्य और सम्यग्ज्ञानकी खड्ग सम्हालता है वह पाप पुण्यकर्मके संचयको क्षय करके व नवीन कर्मको न बन्ध करके मुक्त होजाता है।

पुरुषार्थ और दैव विना संसारकी गाड़ी नहीं चल सक्ती है। यह बात समझ लेनी चाहिये कि दैव दो तरहका होता है—एक तो वह जो आत्माके भावोंमें विकार पैदा करता है, दूसरा वह जो बाहरी संयोग—वियोगके होनेमें लाभ या हानि करता है। जितना ज्ञान व वीर्य आत्मामें प्रगट है वह पुरुषार्थ अन्तरङ्गका है; वहीं अन्तरङ्गमें

६	प्रमत्त	५	आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, स्त्यानगृद्धि, निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचला
७	अप्रमत्त	४	सम्यक्त्व प्र०, अर्धनाराच, कीलित, सृपाटिका संहनन
८	अपूर्वकरण	६	हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा,
९	अनिवृत्तिकरण	६	स्त्री, पुरुष, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया
१०	सूक्ष्मसांपराय	१	संज्वलन लोभ
११	उपशांत मोह	२	वज्रनाराच, नाराच संहनन
१२	क्षीणमोह	१६	निद्रा, प्रचला, ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४, अन्तराय ५
१३	सयोग केवलि	२९	वज्रवृषभ नाराच संहनन, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुस्वर, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, ६ संस्थान, ४ वर्णादि, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रत्येक शरीर
१४	अयोग केवलि	१३	वेदनीय २, मनुष्यगति, मनुष्यायु, पंचेन्द्री, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यश, तीर्थंकर, उच्च गोत्र

एक मोहकर्म है जिसके कारण राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अशुद्ध भाव होते हैं, नानाप्रकारकी इच्छाएँ होती हैं। भीतरमें ज्ञान और वीर्यरूपी पुरुषार्थसे और मोह रागद्वेषसे युद्ध हुआ करताहै।

जो बलवान होता है उसकी विजय होजाती है। जैसे किसीके मनमें यह इच्छा पैदा हुई कि मैं एक मिठाई खाऊं, तब ज्ञानने कहा कि यह मिठाई खाने योग्य नहीं है, हानिकारक है, आत्मवीर्य यदि प्रबल होगा तो वह मानव अपनी उस इच्छाको रोक लेगा, मिठाई नहीं खाएगा। यदि ज्ञान ठीक नहीं हुआ व आत्म वीर्य निर्बल हुआ तो वह मानव मिठाई खा लेगा। पुरुषार्थकी वृद्धि उत्तम शास्त्रज्ञानसे व सत्संगतिसे होती है तथा भीतरी दैव या मोहकी कमी भी धर्मज्ञान व तत्वविचारसे होती है। भीतरी दैव या इच्छा या रागद्वेष मोहको हम जानकर उसके रोकनेका उपाय कर सक्ते हैं, बाहरी दैवको हम पहलेसे नहीं जान सक्ते। साधारण मानवोंको यह ज्ञान नहीं होसक्ता है कि हमारा यह काम पुण्यके उदयसे सफल होगा या पापके उदयसे बिगड़ जायगा। बाहरी दैव बिल्कुल अदृष्ट या गुप्त रहता है।

हमें पुरुषार्थी होना चाहिये।

तब एक बुद्धिमान मानवका यही कर्तव्य है कि वह हरएक काममें पुरुषार्थकी मुख्यता रक्खे। ज्ञानसे उस कामको विचारे कि करना चाहिये या नहीं या मैं कर सकूंगा या नहीं, फिर आत्मवीर्यसे उत्साहपूर्वक उस कामको करनेका उद्यम करे। यदि विघ्नकारक पापका फल नहीं प्रगट होगा तो वह काम सफल हो ही जायगा। यदि पापके फलसे काम सफल नहीं हो तो दैवका तीव्र उदय मानना चाहिये। हमारा

कर्मोके बन्ध और उदयके कथनको देखनेसे विदित होगा कि कुछ कर्म प्रकृतियां जिस गुणस्थानमें बंधती हैं उसहीमें उदय आती हैं। कुछ प्रकृतियां नीचे गुणस्थानमें बन्धती हैं ऊपर गुणस्थानों तक उदय आती हैं। और कुछ प्रकृतियां ऊपर गुणस्थानोंमें बन्धती हैं नीचे गुणस्थानोंमें उदय आती हैं। उनके कुछ दृष्टांत नीचे प्रमाण जानने चाहिये—

नं० १—मिथ्यात्व प्रकृतिका बंध और उदय मिथ्यात्व गुणस्थानमें होता हैं।

नं० २—तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, नीचगोत्र, इनका बंध दूसरे गुणस्थान तक होता है। उदय ५ वें गुणस्थान तक होता है।

नं० ३—देवायुका बन्ध ७ वें गुणस्थान तक होता है। उदय ४ थे गुणस्थान तक होता है।

नं० ४—नपुँसकवेदका बन्ध १ले गुणस्थानमें, स्त्रीवेदका दूसरे गुणस्थानमें होता है, तब इनका उदय नौमें गुणस्थान तक होता है।

जैसे भोजनपान आदि स्वयं ग्रहण किये जाते हैं और स्वयं ही पककर अपने फलसे रुधिरादि बनते हैं और शरीरको शक्ति प्रदान करते हैं, व बाह्य क्षेत्र कालका निमित्त होनेपर विशेष रूपसे फलते हैं, उसी प्रकार ये जीव अपने भावोंसे स्वयं कर्म बंध करता है और वे कर्म स्वयं निमित्त पाकर अपना फल प्रकट करते हैं।

ऊपरके नकशेमें नाना जीवापेक्षा उदयका कथन है। अब यह बताया जाता है कि एक जीवके एक समयमें एक गुणस्थानमें ८ कर्मोंकी कितनी उत्तर प्रकृतियोंका एक साथ उदय होता है। एक साथ उदय होनेवाली प्रकृतियोंके स्थानको उदय स्थान कहते हैं।

कर्तव्य यह है कि हम बुद्धिपूर्वक हरएक कामको विवेकपूर्वक करें। बहुधा बुद्धिपूर्वक काम सफल हो ही जाते हैं। यदि पुण्य या दैव अनुकूल नहीं हुआ तो काम न भी होवे तौभी बुद्धिपूर्वक कामोंमें पुरुषार्थकी मुख्यता है दैवकी गौणता है। अबुद्धिपूर्वक कामोंमें दैवकी मुख्यता है, पुरुषार्थकी गौणता है। जैसे एक आदमीने बुद्धिपूर्वक अच्छी गाड़ी-पर सवारी की, मार्गमें जाते हुए उसको अबुद्धिपूर्वक अकस्मात् होगया-चोट लग गई। इस चोट लगनेमें दैवकी मुख्यता व पुरुषार्थकी गौणता रही तौभी हमको दैवके भरोसे न रहकर पुरुषार्थी होना चाहिये।

दैवके हम ही स्वामी हैं।

हम ही अपने रागद्वेष मोह भावोंसे या शुभ अशुभ भावोंसे पाप पुण्यरूपी दैवको संचय करते हैं। हम ही उस कर्मकी अवस्थामें अपने भावोंसे बदलाव कर सक्ते हैं। हम ही उस कर्मका विना फल भोगे नाश भी कर सक्ते हैं। दैवके बनानेवाले उसको बद-लनेवाले व उसका क्षय करनेवाले हम ही हैं। धर्म पुरुषार्थसे अर्थात् वीतराग भावोंके प्रतापसे हम पापकर्मकी शक्ति कम कर सक्ते हैं या पापकर्मका नाश भी कर सक्ते हैं। इसीलिये यद्यपि हरएक संसारी जीवके साथ अनादिसे दैव और पुरुषार्थ दोनों हैं। पुरुषार्थ तो वही है जितना आत्माका ज्ञान वीर्यादि स्वभाव प्रगट है।

पुरुषार्थ दैवसे बड़ा है।

दैव पाप पुण्यकर्मका सम्बन्ध व उनका फल है तथापि दोनोंमें पुरुषार्थ ही बलवान है। वीतराग विज्ञानमय धर्मके प्रभावसे साधुगण आत्मध्यानकी अग्निमें सर्व दैवको भस्म करके शुद्ध या परमात्मा होजाते हैं। दैव अपना ही इकट्ठा किया हुआ मैल है। हम

होसकता है, या भयका अकेले या जुगुप्साका अकेले उदय होसक्ता है अथवा जुगुप्सा भय दोनोंका किसी जीवके उदय नहीं होसकता।

नं० १—मिथ्यात्व गुणस्थानमें ४ उदयस्थान होंगे। १०—९—९—८।

नं० १ (१० का) मिथ्यात्व प्रकृति १
४ अनंतानुबंधी आदि क्रोध या मान या माया या लोभ ४
३ वेदमेंसे १ वेद १
हास्य रति युगल या शोक अरति युगलमेंसे २
भय जुगुप्सा २

१०

नं० २—(९ का) उपर्युक्त १० मेंसे जुगुप्सा विना ९
नं० ३—उपर्युक्त १० मेंसे भय विना ९
नं ४—उपर्युक्त १० मेंसे भय जुगुप्सा दोनों विना ८

२ सासादन गुणस्थान—यहां मिथ्यात्वका उदय न होगा, उदयस्थान ४ होंगे। ९—८—८—७

नं० १—४ अनंतानुवंधी आदि क्रोध या मान या माया या लोभ ४
३ वेदमेंसे १ वेद १
हास्य रति या शोक अरतिमेंसे २
भय जुगुप्सा २

९

नं० २—उपर्युक्त ९ में जुगुप्सा विना ८

ही उसको धो भी सक्ते हैं। जैसे हम अपने बाहरी दीखनेवाले स्थूल शरीरको भोजन पानी हवा देकर पुष्ट रखते हैं, रोग होनेपर दवाई लेकर रोगको दूर करते हैं, हम ही विष खाकर उस स्थूल शरीरसे छूट भी सक्ते हैं, इसी तरह दैव या पाप पुण्यके बने सूक्ष्म शरीरको हम ही बनाते हैं, हम ही उसे सबल या निर्बल कर सक्ते हैं, हम ही उससे वियोग भी पासक्ते हैं। हमें हरएक कार्यमें पुरुषार्थको मुख्य रखना चाहिये, क्योंकि हमारी बुद्धिगोचर यही रह सक्ता है। दूसरी शताब्दीके प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ आप्तमीमांसामें लिखते हैं—

> दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथम् ।
> दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥ ८८ ॥

भावार्थ—यदि दैवसे या पाप पुण्यकर्मसे ही कार्यकी सिद्धि होजाया करे, दुःख सुख होजाया करे, ज्ञानादि होजाया करे, तो दैवके लिये पुरुषार्थकी क्या जरूरत रहे ? मन, वचन, कायकी शुभ या अशुभ क्रियासे पाप या पुण्यकर्म या दैव बनता है, यह बात बिलकुल सिद्ध नहीं हो। यदि दैवसे ही बन जाया करे तो दैवकी संतान सदा चलनेसे कोई पाप पुण्य कर्मरूपी दैवसे छूटकर मुक्त नहीं हो सक्ता है। तब दान, शील, जप, तप, ध्यान आदिका सर्व धर्म-पुरुषार्थ निष्फल होजावे, मिथ्या होजावे ।

> पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ।
> पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥ ८९ ॥

भावार्थ—यदि सर्वथा पुरुषार्थसे ही हरएक कामकी सिद्धि

नं० २—उपर्युक्त ९ में जुगुप्सा विना	८
नं० ३— „ ९ में भय विना	८
नं० ४— „ ९ में भय जुगुप्सा विना	७

औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यक्त मोहनीयका उदय न होगा, इसलिये १ प्रकृति घट जानेसे उदयस्थान ४ होंगे।

८—७—७—६

५—देशविरति—यहां अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय न होगा, वेदक सम्यक्त्वकी अपेक्षा सम्यक्त मोहनीयका उदय होगा तब उदयस्थान ४ होंगे। ८—१—७—६

नं० १ सम्यक्त	१
प्रत्याख्यानावरण क्रोध या मान या माया या लोभ	
संज्वलन	२
३ वेदमेंसे	१
हास्यरति, शोक अरति, युगलमेंसे	२
भय जुगुप्सा	२
	८
नं० २ उपर्युक्त ८ मेंसे जुगुप्सा विना	७
नं० ३ „ ८ मेंसे भय विना	७
नं० ३ „ ८ मेंसे भय जुगुप्सा दोनों विना	६

औपशमिक तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय न होगा, उदयस्थान ४ होंगे ७—६—६—५

ऊपरके स्थानोंमें १ सम्यक्तप्रकृति घट जावेगी।

नं० २ उपर्युक्त ६ में जुगुप्सा विना ५

नं० ३— " ६ में भय विना ५

नं० ४— " ६ में भय जुगुप्सा विना ४

९ अनिवृत्तिकरण—इसके प्रथम भागमें हास्यादि ६ नोकषायका उदय न होगा, उदयस्थान १–२ प्रकृतिका होगा ।

नं० १—संज्वलन क्रोध, मान, माया या लोभ १
३ वेदमेंसे १
—
२

दूसरे भागमें वेदका उदय नहीं तब एकका उदयस्थान होगा ।

संज्वलन क्रोध, मान, माया या लोभ १

३ रे भागमें क्रोधका उदय न होगा १ का उदयस्थान होगा ।

संज्वलन मान, माया या लोभ १

४ थे भागमें मानका उदय न होगा, १ का उदयस्थान होगा ।

संज्वलन माया या लोभ १

५ वें भागमें मायाका उदय न होगा, मात्र १ उदयस्थान लोभका होगा १

१० सूक्ष्मलोभ गुण०—यहां १ सूक्ष्म लोभका उदय होनेसे १ उदयस्थान होगा ।

इसतरह मोहनीय कर्मके उदयस्थान १०–९–८–७–६–५–४–२–१ ऐसे ९ होंगे ।

विशेष—किसी सादि मिथ्यादृष्टि जीवके अनंतानुबन्धी कषायका उदय नहीं होता । अतः १ प्रकृति घटाकर मिथ्यात्व गुणस्थानमें ४ उदयस्थान ९–०–८–७ के होंगे ।

भावार्थ—पुरुष चैतन्यस्वरूप आत्मा है जो स्वभावसे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, जड़ परमाणुओंके गुणोंसे रहित अमूर्तीक है, गुण और पर्यायोंका या अवस्थाओंका रखनेवाला है। इसीसे पर्याय पलटनेकी अपेक्षा उत्पाद व व्यय स्वरूप है। नई पर्याय पैदा होती है तब पुरानी पर्यायका नाश होता है तो भी गुणोंकी अपेक्षा आत्मद्रव्य ध्रुव है, इसी पुरुष या आत्माका जो अर्थ या कार्य है वही पुरुषार्थ है।

परिणममाणो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥ १० ॥

भावार्थ—अनादि प्रवाहसे या संतानसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके साथ यह आत्मा परिणमन करता या अवस्था बदलता रहता है। यह आत्मा अपने ही शुभ या अशुभ भावोंका कर्ता है या अपने ही सुखदुःखरूपी भावोंका भोक्ता है। पुण्य या पापकर्मरूपी दैव कैसे बनता है उसके लिये कहते हैं—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥

भावार्थ—जीवके किये हुए अशुद्ध या शुभ-अशुभ भावोंका निमित्त या कारण पाकर दूसरे कार्मण पुद्गलके स्कंध स्वयं ही पुण्य-पापरूप कर्ममें बदल जाते हैं, पापपुण्य कर्म या दैवका संचय होजाता है।

उन अशुद्ध भावोंके होनेमें भी मोहकर्मका उदय कारण पड़ता है, ऐसा कहते हैं—

परिणममाणस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १३ ॥

नं० (३) २४ का उदयस्थान—

उपर्युक्त २१ नं०, १ प्रकारमेंसे आनुपूर्वी निकालकर औदारिक शरीर, प्रत्येक और साधारणमेंसे १, ६ संस्थानोंमेंसे १, १ उपघात इस तरह ४ जोड़नेसे २४ का उदय ऐकेन्द्रिय जीवोंमें होता है।

नं० (४) २५ का उदयस्थान—

इसके प्रकार ३ हैं। नं० १ प्रकार—उपर्युक्त २४ में परघात जोड़नेसे २५ का उदय एकेन्द्रियोंके होता है।

नं० २ प्रकार—इन २५ मेंसे परघात व औदारिक शरीर निकालकर आहारक शरीर व अंगोपांग जोड़कर २५ का उदय छठे गुणस्थानमें आहारक शरीरधारी मुनिको होता है।

नं० ३ प्रकार—ऊपर २५ नं० १ के प्रकारमेंसे औदारिक शरीर और परघात निकालकर, वैक्रियक शरीर व आंगोपांग मिलाकर २५ का उदय देव व नारकियोंके होता है।

नं० (५) २६ का उदयस्थान—

इसके प्रकार ३ हैं। प्रकार नं० १ ऊपरके कहे हुये २४ में ३ अंगोपांगोंमेंसे १, ६ संहननोंमेंसे १, इस तरह २ मिलानेसे २६ का उदय दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेंद्रिय, व सामान्य मानवके तथा सामान्य समुद्घात केवलीके होता है।

नं० २ प्रकार—ऊपर २५ प्रकार नं० १ में आतप या उद्योत प्रकृति जोड़नेसे २६ का उदय एकेंद्रियोंके होता है।

नं० ३ प्रकार—ऊपर कहे हुए २५ प्रकार १ में उच्छ्वास जोड़नेसे २६ का उदय एकेंद्रियके होता है।

उच्छ्वास इन ५ को जोड़नेसे २८ का उदय ६ ठे गुणस्थानमें आहारक शरीरधारी मुनियोंके होता है ।

नं० ३ प्रकार—ऊपर २४ मेंसे औदारिक शरीरको निकाल-कर वैक्रियक शरीर, वैक्रियक अंगोपांग, परघात, एक कोई विहायोगति, व उच्छ्वास इन ५ को जोड़नेसे २८ का उदय देव या नारकियोंके होता है ।

नं० (८) २९ का उदयस्थान—

इसके प्रकार ६ हैं—

नं० १ प्रकार—सामान्य मनुष्यके २८ में या समुद्घात सामान्य केवलीके २८ में उच्छ्वास प्रकृति जोड़नेसे २९ का उदय उन्हींके होता है ।

नं० २ प्रकार—ऊपर २४ में औदारिक अंगोपांग, १ कोई संहनन परघात व एक विहायोगति, तथा उद्योत इस तरह ५ प्रकृति जोड़नेसे २९ का उदय दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेंद्रियके होता है ।

नं० ३ प्रकार—इन्हीं २९ मेंसे उद्योत निकाल कर तीन उच्छ्वास जोड़नेसे २९ का उदय दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरि-न्द्रिय, पंचेंद्रियके होता है ।

नं० ४ प्रकार—ऊपर २४ में औदारिक अंगोपांग, प्रथम संहनन, परघात, प्रशस्त विहायोगति, तीर्थंकर इन ५ को जोड़नेसे २९ का उदय समुद्घात तीर्थंकर केवलीके होता है ।

कारण पड़ता है। ज्ञान और वीर्यके बलसे यह भावोंको ठीक कर सक्ता है। तौ भी जितने अंश भावोंमें अशुद्धता रागद्वेष मोहकी होती है उतने अंश नया कर्मबन्ध हो जाता है, इसतरह इस आत्माके अशुद्ध पुरुषार्थसे दैव बनता है। दैवके फलसे अशुद्ध भाव होते हैं। यह काम अनादिसे होता चला आ रहा है। जब कभी यह आत्मा ज्ञानी होकर मिथ्या श्रद्धानको दूर करके यह जान जाता है कि मेरा स्वभाव परम शुद्ध है, रागद्वेष मोह रहित ज्ञानानन्दमय है, रागद्वेष मोहका झलकाव मोहकर्मके उदयसे होता है व इस ज्ञानका दृढ़ विश्वास कर लेता है, तब आत्माके वीतराग भावमें जमनेका अभ्यास करता है, तब नए दैवका संचय रोक देता है व पुराने दैवको जला करके शुद्ध या मुक्त हो जाता है, मोक्ष पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है। ज्ञानी जीव दैवपर विजय पा लेता है।

इस कारण पुरुषार्थ ही दैवसे बड़ा है। संसारमें अपनी आसक्तिरूपी भूलसे दैव बनता है तब संसारकी आसक्ति छोड़ देनेसे दैवका बनना बन्द हो जाता है। ज्ञान व वैराग्यके ध्यानसे पिछला दैव जल जाता है। ज्ञान और वीर्यरूपी पुरुषार्थके द्वारा सावधान रहनेसे ही दैवपर विजय मिलती जाती है। जैसे बीजको एक दफे पका लेनेपर या जला देनेपर फिर वह बीज नहीं उगता है, वैसे ही यह आत्मा जब कर्मोंके बीजको जलाकर मुक्त या शुद्ध होजाता है, तब फिर नए कर्मोंका बंध न होनेपर संसार दशामें नहीं आता है।

दशवीं शताब्दीके श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती गोम्मटसार कर्मकांडमें लिखते हैं—

नं० (१०) ३१ का उदयस्थान—

इसके २ प्रकार हैं। नं० १ प्रकार—३० नं० ४ के प्रकारमें तीर्थंकरके जोड़नेसे ३१ का उदय तीर्थंकर केवलीके होता है।

नं० २ प्रकार—ऊपर २४ में अंगोपांग, संहनन, परघात, उद्योत, १ विहायोगति, उच्छ्वास, एक कोई स्वर इसतरह ७ जोड़नेसे ३१ का उदय दो इन्द्रिय, ३ इन्द्रिय, ४ इन्द्रिय, पंचेन्द्रियके होता है।

नं० (११) का ९ का उदयस्थान—

मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्ति, आदेय, यश व तीर्थंकर इन ९का उदय तीर्थंकर अयोग केवलीके होता है।

नं० (१२) ८ का उदयस्थान—

ऊपर ९ में तीर्थंकर निकालकर ८ का उदय सामान्य अयोग केवलीके होता है। इस तरह नामकर्मके १२ उदयस्थान जानने योग्य हैं।

१४ गुणस्थानोंमें किस गुणस्थानमें कितना नामकर्मकी प्रकृतियोंके उदयस्थान एक जीवके एक समयमें होते हैं, उनका वर्णन नीचे लिखे प्रकार है—

गुणस्थान	उदयस्थान
मिथ्यात्व	२१—२४—२५—२६—२७—२८—२९—३०—३१
सासादन	२१—२४—२५—२६—२९—३०—३१
मिश्र	२९—३०—३१
असंयत	२१—२५—२६—२७—२८—२९—३०—३१
देशविरत	३०—३१

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ॥ २ ॥

भावार्थ—जीवका और कर्म प्रकृतिरूप कार्मण शरीरका या दैवका दोनोंका प्रवाहरूपसे अनादिसे संबंध है। जैसे खानसे निकले हुए कनक पाषाणमें सुवर्ण और मलका संबंध है। यह बात स्वयं सिद्ध है कि जीव भी है और दैव भी है।

इस तरह इस अध्यायमें यह बात संक्षेपमें बताई गई है कि जीवका अपना ज्ञान व वीर्यका जो कुछ प्रयत्न है वह पुरुषार्थ है। और जो पाप तथा पुण्यकर्म है वह दैव है। दैवको जीव बताया है, जीव ही उसका फल भोगता है। जीव ही उसमें तबदीली कर सक्ता है व जीव ही अपने यथार्थ धर्मपुरुषार्थसे दैवका क्षय करके सिद्ध व शुद्ध व मुक्त हो सक्ता है, दैवको जीत सक्ता है। पुरुषार्थका ही महानपना है। आगेके अध्यायोंमें इसी अध्यायके कथनका विस्तार किया जायगा।

गुण० नं०	शा०	दर्श०	वेद०	मोहनीय कर्म	आयु	नाम	गोत्र	अन्त०
१	५	४/५	१	१०-९-८-७	१	२१-२४-२५-२६-२७-२८-२९-३०-३१	१	५
२	५	४/५	१	९-८-७	१	२१-२४-२५-२६ २९-३०-३१	१	५
३	५	४/५	१	९-८-७	१	२९-३०-३१	१	५
४	५	४/५	१	९-८-७-६	१	२१-२५-२६-२७-२८-२९-३०-३१	१	५
५	५	४/५	१	८-७-६-५	१	३०-३१	१	५
६	५	५/५	१	७-६-५-४	१	२५-२७-२८-२९-३०	१	५
७	५	४/५	१	७-६-५-४	१	३०	१	५
८	५	४/५	१	६-५-४	१	३०	१	५
९	५	४/५	१	२-१	१	३०	१	५
१०	५	४/५	१	१	१	३०	१	५
११	५	४/५	१	०	१	३०	१	५
१२	५	४/५	१	०	१	३०	१	५
१३	०	०	१	०	१	२०-२१-२६-२७-२८-२९-३०-३१	१	०
१४	०	०	१	०	१	९-८	१	०

अध्याय दूसरा।

आत्माका स्वभाव व विभाव।

इस अध्यायमें हम इस आत्माका स्वभाव तथा उसका विभाव विचार करेंगे। आत्मा एक द्रव्य है, Soul is a substance इसका काम अकेले नहीं चलता है। इस लोकमें पांच द्रव्य और हैं जो चेतनरहित अजीव हैं। आत्मा या जीव ही सचेतन पदार्थ है। ये पांच अजीव द्रव्य—पुद्गल, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल हैं। यह लोक इन जीव अजीव द्रव्योंका या छः द्रव्योंका समूह है। ये सब द्रव्य सत् हैं, सदासे हैं, व सदा रहेंगे—अकृत्रिम हैं, अनादि व अनन्त हैं, इसलिये इन छः द्रव्योंका समूहरूप लोक भी सत है, अकृत्रिम है, अनादि व अनन्त हैं। सत् उसको कहते हैं जिसमें परिणमन या अवस्थासे अवस्थांतर होते हुए भी कभी विनाश नहीं हो। सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। हरएक सत् द्रव्यमें उत्पत्ति या जन्म, व्यय या नाश, ध्रौव्य या स्थिरपना ये तीनों स्वभाव पाए जाते हैं। हरएक सत् द्रव्य गुण पर्यायोंका समूह है। जो द्रव्यके साथ सदा रहें, कभी भी द्रव्यसे जुदे न हों, जिनका आधार द्रव्य हो व एक गुण दूसरे गुणसे भिन्न २ हो उसे गुण कहते हैं। गुणोंमें हरसमय स्वाभाविक या वैभाविक परिणमन होकर जो अवस्थाएं समय समय होती हैं उन अवस्थाओंको पर्याय कहते हैं। पर्यायें क्रमसे होती हैं। एक

१३ सयोग	६३	८५	०	६३=४७ घातिया प्रकृति, ३ आयु नरक तिर्यंच, देव, नरकद्विक, तिर्यंक-द्विक, ४ एकेंद्रियादि, १ आतप, उद्योत, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर ।
१४ अयोग	६३	८५	८५	=८५=५ शरीर, ५ बंधन, ५ संघात ६ संस्थान, ३ अंगोपांग, ६ संहनन, २७ वर्णादि, स्थिरद्विक, शुभद्विक २ स्वरद्विक २, विहायोगति २, देव मनुष्य गत्यानुपूर्वी २ दुर्भग, सुभगद्विक, निर्माण १ यश, अयश २, आदेय, अनादेय, १ प्रत्येक, २ अप-र्याप्त, पर्याप्त, अगुरुलघु १, उद्योत १, परघात १, उच्छ्वास १, २ वेदनीय साता, असाता, २ गोत्र नीच ऊंच, मनुष्यगति, पंचेंद्रिय, त्रस, बादर, तीर्थंकर, मनुष्यायु, देवगति ।
			१४८ योग	

विशेष ८ वें गुणस्थानसे ११ वें गुणस्थान पर्यंत, उपशम-श्रेणी वाले जीवके, नरकायु तियचायुकी सत्ता नहीं होगी तब १४६ की सत्ता होगी ।

यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणी चढ़ेगा और देवायु नहीं बांधी होगी तो १३८ की सत्ता होगी । १० कम हो जायगी, ४ अनंतानुबंधी, ३ दर्शन मोहनीय और ३ नरकायु, तिर्यंचायु, देवायु ।

गुणमें जिस समय नई पर्याय पैदा होती है, उसी समय पुरानी पर्यायका नाश होता है तथा गुण व गुणोंका समूहरूप द्रव्य ध्रुव या स्थिर रहता है इसलिये द्रव्यको उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप कहते हैं। द्रव्यके लक्षण तीन हैं—

१ सत् है, २ गुणपर्यायवान है, ३ उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है। इन तीनों लक्षणोंके धारी छहों द्रव्य हैं, तब उनका समूहरूप लोक भी वैसा ही है, सत् है, गुणपर्यायवान है, व उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। यदि विचारकर देखा जावेगा तो ये तीनों लक्षण सिद्ध होजावेंगे। इनके अनेक दृष्टान्त हमारे सामने हैं। परमाणु स्पर्श रस गंध वर्णवाला होता है, उनके बंधनसे बंधे स्कंध होते है। उनमें भी ये चार गुण पाए जाते हैं, किन्हीं स्कंधोंके सर्व ही गुण या कोई एक दो तीन गुण हमारी स्थूल दृष्टिसे न विदित हों परन्तु चार गुणोंसे खाली कोई मूर्तिक जड़ पदार्थ नहीं होता है। मिट्टी, सोना, चांदी, गेहूं, लकड़ा, कपास, ये सब स्कंध हैं। दृष्टांतमें इनको द्रव्य मान लिया जावे तो विदित होगा कि मिट्टीमें मिट्टीके गुण सदा रहते हैं। उससे घड़ा, प्याला, मटकैना, सुराही आदि अनेक अवस्थाएं बन सक्ती हैं। एक मिट्टीके पिंडकी एक समयमें एक अवस्था बनेगी, उसके मिटनेपर दूसरी बनेगी। मिट्टी किसी न किसी पर्यायमें मिलेगी। मिट्टी इसलिये गुणपर्यायवान है। व जब मिट्टीके पिंडको घड़ेकी पर्यायमें बदला तब जब घड़ेकी पर्याय बनी उसी-समय घड़ेके पहले जो पर्याय थी उसका नाश हुआ, मिट्टी वही है इससे मिट्टी उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है।

सोना पीत भारी चिकने आदि गुणोंको सदा रखनेवाला द्रव्य

क्षीणकषायके अन्तिम समयतक रहेगी। इस तरह ३ सत्वस्थान होंगे—
९, ६, ४।

३ वेदनीय कर्म—इसके २ भेद हैं। दोनोंकी सत्ता १ लेसे १४ वें गुणस्थान तक रहेगी।

४ मोहनीय कर्म—इसके सत्वस्थान १५ हैं—

नं० १—सर्व २८, नं० २—सम्यक्त प्रकृति विना २७, नं० ३—सम्यक्त और मिश्र विना २६, नं० ४—२८ में ४ अनंतानुबंधी कषाय विना २४, नं० ५—२४ में मिथ्यात्वके क्षयसे २३, नं० ६—२३ में से मिश्र कर्मके क्षयसे २२, नं० ७—२२ में सम्यक्त-प्रकृतिके क्षयसे २१, नं० ८—२१ में ४ अप्रत्याख्यान और ४ प्रत्याख्यान कषायके क्षयसे १३, नं० ९—१३ में नपुंसकवेद या स्त्री वेदके क्षयसे १२, नं० १०—१२ में नपुंसकवेद या स्त्री वेदके क्षयो० ११, नं० ११—११ में हास्यादि ६ नोकषायके क्षयसे ५, नं० १२—५ वें पुंवेदके क्षयसे ४, नं० १३—४ में क्रोधके क्षयसे ३, नं० १४—३ में मानके क्षयसे २, नं० १५—२ में मायाके क्षयसे १ लोभ, इसतरह कुल १५ सत्वस्थान होंगे।

गुणस्थानोंकी अपेक्षा इनका विवरण इसप्रकार जानना योग्य है—

गुणस्थान सत्वस्थानकी प्रकृतियोंकी संख्या।

मिथ्यात्व—२८, २७, २६

सासादन—२८

मिश्र—२८, २४

अविरत—२८, २४, २३, २२, २१

है । इससे कड़ा, कंठी, अंगूठी, वाली, भुजबन्ध, हार आदि अनेक गहने बन सक्ते हैं । एक गहना एक समयमें बनेगा, दूसरा बनानेके लिये पहलेको तोड़ना होगा । जिस समय कंठीको तोड़कर कड़ा बनाया जायगा। कंठीका नाश जब होगा तब ही कड़ेकी उत्पत्ति होगी, सोनापना रहेगा । इसलिये सोना गुण पर्यायवान व उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है ।

चांदीमें सफेदी चिकनई आदि गुण हैं। चांदीकी थाली, गिलास, कटोरी, चमची, आदि पर्यायें बन सक्ती हैं । एक प्रकारकी चांदीकी एक वस्तु ही एक समयमें बनेगी । दूसरी वस्तु बनानेके लिये पहलीको तोड़ना पड़ेगा । चांदीका कभी नाश नहीं होगा, इसलिये चांदी गुण पर्यायवान व उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप सिद्ध हो जाती है ।

गेहूंमें गेहूंके गुण हैं । सेरभर गेहूंको पीसकर आटा बनाते हैं, आटेको पानीसे भिगोकर लोई बनाते हैं, लोईको रोटीकी शक्लमें वेलते हैं, रोटीको पकाते हैं, गेहूंकी कई पर्यायें बदलीं, गेहूंपना बना ही रहा । इसलिये गेहूं गुण पर्यायवान व उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है।

लकड़ीमें लकड़ीके गुण हैं । उससे कुरसी, पलंग, तिपाई, मेज, पाटा, तखत आदि अनेक चीजें बना सक्ते हैं । एक लकड़ीसे एक चीज एक समयमें तैयार होगी उसे तोड़कर दूसरी चीज बनानी होगी, लकड़ी बनी रहेगी, इसलिये लकड़ी गुण पर्यायवान व उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है ।

कपासमें कपासके सफेदी आदि गुण हैं। थोड़ीसी कपास हमारे पास है, इसको तागेमें बदल सकते हैं, तागोंसे कपड़ेका थान बुन सकते हैं, उस थानसे कुरता, टोपी, अंगरखा, पायजामा, धोती आदि

विना । नं० (७) ८२=८४ में मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी विना। नं० (८) ८०=९३ में १३ प्रकृति विना, नरकद्विकं, तिर्यंचद्विकं विकलत्रैय, उद्योत, मानव, एकेंद्रिय, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर । नं० (९) ७९=८० में तीर्थङ्कर विना । नं० (१०) ७८=८० में आहारक द्विक विना । नं० (११) ११=८० में तीर्थङ्कर आहारक द्विक विना । नं० (१२) १०=मनुष्यगति मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पंचेंद्रिय, सुभग, त्रस, वादर, पर्याप्ति, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थ । नं० (१३) ९=१० मेंसे तीर्थ विना ।

गुणस्थान अपेक्षा सत्वस्थान नीचे प्रकार होंगे—

गुण० सत्वस्थानकी प्रकृतियोंकी संख्या ।

मिथ्यात्व—९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२ ।

सासादन—९० ।

मिश्र—९२, ९० ।

अविरति—९३, ९२, ९१, ९०

देशविरत—९३, ९२, ९१, ९०

प्रमत्त—९३, ९२, ९१, ९०

अप्रमत्त—९३, ९२, ९१, ९१

अपूर्वकरण—९३, ९२, ९१, ९०

अनिवृत्तिकरण—९३, ९२, ९१, ९०, ८०, ७९, ७८, ७७

सूक्ष्मसांपराय—९३, ९२, ९१, ९०, ८०, ७९ ७८, ७७

उपशान्त मोह—९३, ९२, ९१, ९०

बना सकते हैं। एक दशा बिगड़ेगी तब दूसरी बनेगी। कपासपना कभी नाश नहीं होगा। इसलिये कपास गुण पर्यायवान है व उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। हजारों लाखों दृष्टान्तोंसे यही सिद्ध होगा कि मूल वस्तु सदा बनी रहती है। केवल उसकी पर्यायें या अवस्थाएं ही बनती तथा बिगड़ती हैं।

आत्माकी तरफ विचार करें तो हम देखेंगे कि कोई आत्मा किसी समय क्रोधी होरहा है, वही कुछ देर पीछे शांत होजाता है। यहां क्रोधका नाश व शांतिका जन्म हुआ तथापि आत्मा वही है। जब एक मानव मरकर पशु पैदा होता है तब मानवपनेका नाश, पशुपनेका जन्म हुआ परन्तु आत्मा वही है। इस जगतमें जितने मूल पदार्थ जीव तथा अजीव हैं वे सब बने रहते हैं, केवल उनमें अवस्थाएं बदला करती हैं। Root substances always exist, only the conditions are changing. इस जगतको जो परिवर्तनशील व क्षणिक व नाशवंत कहा जाता है वह सब अवस्थाओंके बदलनेकी अपेक्षासे ही कहा जाता है। कहीं नगर उजाड़ होगया, कहीं नगर बस गया। पानीसे भाफ बनती है, मेघ बनते हैं। मेघसे फिर पानी बनता है। नदी सूख जाती है फिर भर जाती है। कहीं मकान टूट जाता है कहीं बन जाता है। सर्व ही द्रव्य अपनी २ अवस्थामें हमको दिखलाई पड़ते हैं। वे अवस्थाएं बदलती हैं, इसीसे जगतके पदार्थ मिथ्या व नाशवंत कहाते हैं, परन्तु हम किसी भी वस्तुका सर्वथा लोप नहीं कर सक्ते हैं। कपड़ेको जलाएंगे, राख बन जायगी। न कोई चीज विना किसी चीजके बिगड़े बन सक्ती है न

गुण० नं०	ज्ञा०	दर्श०	वेद०	मोहनीय कर्म	आयु	नाम	गोत्र	अन्त०
१	५	९	२	२८-२७-२६	२	९२-९१-९० ८८-८४-८२	२,१	५
२	५	९	२	२८	२	९०	२	५
३	५	९	२	२८-२४	२	९२-९०	२	५
४	५	९	२	२८-२४-२३-२२-२१	२	९३-९२-९१-९०	२	५
५	५	९	२	२८-२४-२३-२२-२१	२	९३-९२-९१-९०	२	५
६	५	९	२	२८-२४-२३-२२-२१	२	९३-९२-९१-९०	२	५
७	५	९	२	२८-२४-२३-२२-२१	२	९३-९२-९१-९०	२	५
८	५	९	२	२८-२४-२१	२	९३-९२-९१-९०	२	५
९	५	९,६	२	२८-२४-२१-१३-१२-११-५-४-३-२-१	२	९३-९२-९१-९०-८०-७९-७८-७७	२	५
१०	५	६	२	२८-२४-२१-१	२	९३-९२-९१-९०-८०-७९-७८-७७	२	५
११	५	६	२	२८-२४-२१	२	९३-९२-९१-९०	२	५
१२	५	६,४	२	०	१	८०-७९-७८-७७	२	५
१३	०	०	२	०	१	८०-७९-७८-७७	२	०
१४	०	०	२,१	०	१	८०-७९-७८-७७-१०-९	२,१	०

विगड़नेवाली चीज विना किसी चीजको बनाए विगड़ सक्ती है। सर्वथा उत्पाद या जन्म तथा सर्वथा नाश या व्यय नहीं होसक्ता। न सत्का नाश सर्वथा होता है न असत्की सर्वथा उत्पत्ति होती है। Nothing comes out of nothing. Every thing comes out of something. यदि रसोईघरमें अन्न, पानी, दुग्धादि सामग्री न हो तो दाल भात रोटी खीर नहीं बन सक्ते हैं। इसलिये यह पक्का निश्चय करना चाहिये कि हरएक मूल द्रव्य सत् है, गुणपर्यायवान है तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। मूलस्वभावसे द्रव्योंका समूह रूप यह जगत सत्य है, अविनाशी है, ध्रुव है। एक ही समयमें जगत नित्य भी है, अनित्य भी है। द्रव्यके बने रहनेकी अपेक्षा नित्य है, पर्याय या दशा पलटनेकी अपेक्षा अनित्य है। दोनों स्वभाव जगतके भीतर हरएक द्रव्यमें पाए जाते हैं।

आत्मा नित्य है तो भी अवस्थाके बदलनेकी अपेक्षा अनित्य है। इसी तरह सब द्रव्य हैं। पर्यायें दो प्रकारकी होती हैं-स्वाभाविक या शुद्ध, तथा वैभाविक या अशुद्ध। जो द्रव्य बिलकुल अकेले रहते हैं, दूसरेके बंधमें या संस्कारमें नहीं रहते हैं उनमें स्वाभाविक व शुद्ध पर्यायें ही होती हैं जैसे—शुद्धात्मामें ये पर्यायें समान ही होती हैं, इनमें कोई कमी या बढ़ती नहीं होती है, कोई मलीनता नहीं होती है। जैसे एक कटोरेमें शुद्ध जल हो, उसमें पवनका झकोरा लगनेसे जो तरंगें उठेंगी ये सब शुद्ध ही होंगी। जो द्रव्य दूसरेमें मिले हुए होते हैं उनसे विभाव या अशुद्ध पर्यायें होती हैं। मिट्टीके साथ मिले हुए पानीमें सब तरंगें मैली ही होंगी। मैले सोनेसे मैली ही सोनेकी

अध्याय चौथा।

पुरुषार्थका स्वभाव और कार्य।

यदि निश्चयनयसे विचार किया जावे तो हरएक पुरुष या आत्मा परम शुद्ध या निर्विकार है, अपने स्वभावका ही कर्ता है और अपने स्वाभाविक आनंदका भोक्ता है, इस दृष्टिमें न संसार है न पुण्य-पाप है, न मोक्ष है, न मोक्षका उपाय है, न दैव और पुरुपार्थका वर्णन है।

व्यवहारनयसे संसार और मोक्षका विचार किया जाता है उसी अपेक्षासे दैव और पुरुपार्थका कथन करना उचित है। पुरुपार्थका संक्षेप कथन पहिले अध्यायमें हम कर चुके हैं, यहां कुछ विस्तारसे लिखा जाता है।

हरएक संसारी जीवोंमें चाहे वह शुद्धसे शुद्ध क्यों न हो, जितनी जानने देखनेकी व आत्मबलकी शक्ति प्रगट है, वही उसका पुरुषार्थ है अर्थात् आत्माका प्रगट गुण है। इस पुरुपार्थसे मन रहित एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तकके जीव अपनी आवश्यक्ताओंकी पूर्तिका उद्यम किया करते हैं इसको दैव या भाग्यकी खबर ही नहीं है।

इसी तरह मन सहित पंचेन्द्रिय जीव भी अनेक हैं जो अपनी ज्ञान दर्शन व आत्मबलकी शक्तिसे अपनी इच्छाओंकी पूर्तिका सतत प्रयत्न किया करते हैं। ये भी दैवको नहीं समझते। इसप्रकार उद्यम करते हुये कभी सफल होते हैं कभी असफल। सफल होनेमें पुण्यकर्मका फल निमित्त कारण है, असफल होनेमें पापकर्मका फल निमित्त कारण है, इस बातको कर्म सिद्धान्तका ज्ञाता समझता है।

भाई तब असाता कर्म सातामें पलट सकता है। किसीने किसीको दान देकर सातावेदनीयका बंध किया था, पीछे उसने अहंकार किया व ईर्षाकी व अपनी प्रशंसा गाई तो इस मलीन भावसे साताका असातामें संक्रमण हो सकता है।

नं० २ उत्कर्षण—पूर्व बांधे हुये कर्मोंमें स्थिति और अनुभागका बढ़ जाना उत्कर्षण है। जैसे किसीने दान देकर सातावेदनीयका बंध किया था। कुछ काल बाद उसके ऐसे भाव हुये कि ऐसा दान मैं और भी करूं। दानसे ही लक्ष्मी सफल होती है। इस विशुद्ध भावसे उस सातावेदनीयका अनुभाग बढ़ जावेगा। ज्ञानावरणीय कर्मकी स्थिति जितनी बांधी थी उसके कुछ काल पीछे उस जीवके विशेष अशुभ भाव हुए जिससे ज्ञानमें अन्तराय पड़े तो इस मलीन भावसे ज्ञानावरणीय कर्मकी स्थिति बढ़ जायगी।

नं० ३ अपकर्षण—पूर्व बांधे हुए कर्मोंकी स्थिति व अनुभाग घट जाना अपकर्षण है। जैसे किसीने किसीको गाली देकर मोहनीय कर्मका स्थिति अनुभाग बंध किया था, पीछे उसने पश्चात्ताप किया तब उस विशुद्ध भावके कारणसे उस कर्मकी स्थिति अनुभाग घट जावेंगे। किसीने नरक आयु एक सागरकी स्थिति बांधी थी, कुछ काल बाद उसके कुछ विशुद्धभाव हुये तो नरक आयुकी स्थिति घटकर १००० वर्ष तककी रह सकती है।

नं० ४ उदीरणा—जिन कर्मोंकी स्थिति अधिक है उस स्थितिको घटाकर कर्मोंको जल्दी उदयमें लाकर फल नहीं भोगनेको उदीरणा कहते हैं। जैसे किसीको तीव्र क्षुधाकी बाधा होरही है उस-

३–द्रव्यत्व–जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यमें पर्यायें या अवस्थाएं सदा होती रहें। द्रव्य परिणमनशील हो, बदलनेकी शक्ति रखता हो, कूटस्थ नित्य न हो, उसी शक्तिसे जगतमें भिन्न २ अवस्थाएं देखनेमें आती हैं। पानीसे वर्फ बनती है, भाफ बनती है, गेहूंसे रोटी बनती है, मिट्टीसे घड़ा बनता है, शरीर बालकसे युवा, युवासे वृद्ध हो जाता है। जन्मके बाद मरण, मरणके बाद जन्म हो जाता है, दिनसे रात, रातसे दिन होता है।

४–प्रमेयत्व–जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य किसीके ज्ञानका विषय हो, कोई उसको जान सके। यदि द्रव्योंका ज्ञान न हो तो उनका होना भी कैसे कहा जावे? इससे सिद्ध है कि सर्वज्ञ केवली भगवान परमात्मा सब द्रव्योंको जानते हैं, वे ही अरहंत पदमें या जीवनमुक्त पदमें अपनी दिव्य वाणीसे प्रकाश करते हैं। अल्पज्ञ पूर्ण नहीं जान सक्ते हैं। जितना जितना ज्ञान बढ़ता है द्रव्योंका ज्ञान अधिक होता है। शुद्ध व निरावरण ज्ञान सबको पूर्ण जानता है। द्रव्योंमें वह शक्ति है कि वे जाने जा सकें।

५–अगुरुलघुत्व–जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्य अपनी मर्यादाको उलंघ कर कम या अधिक न हो। जितने गुण जिस द्रव्यमें हों वे सदा बने रहें। उनमेंसे कोई गुण कम न हो न कोई गुण मिलकर अधिक द्रव्य अपने गुणसमूहको लिये हुए सदा ही बना रहे। इसी शक्तिके कारण जीव कभी अजीव नहीं होसक्ता, न अजीव कभी जीव होसक्ता है।

६–प्रदेशवत्व–जिस शक्तिके निमित्तसे द्रव्यका कुछ आकार (Size) अवश्य हो। हरएक द्रव्य जो जगतमें है वह आकाशके

इसी प्रकार अपने मलीन संक्लेशभावोंसे पुण्यकर्मको पापमें बदल सकता है, पाप कर्मोंका अनुभाग बढ़ा सकता है. पुण्यकर्मका अनुभाग कम कर सकता है, कर्मोंकी स्थितिको बढ़ा सकता है, पापकर्मकी उदीरणा कर सकता है। जैसे स्थूल शरीरमें रोगकारक पदार्थ खाया गया हो तो औषधि लेकर उन पदार्थोंके प्रवाहोंको कम किया जा सकता है, दूर किया जा सक्ता है अथवा वलकारक औषधके प्रयोगसे खाये हुये भोजनके असरको बढ़ा दिया जा सक्ता है, इसी तरह सूक्ष्म कार्मण शरीरमें बंध प्राप्त कर्मोंमें परिवर्तन किया जा सक्ता है। पुरुषार्थमें बड़ी शक्ति है। किन्हीं तीव्र कर्मोंका फल अवश्य भोगना पड़ता है। ऐसे कर्मोंके नीचे प्रकार दो भेद हैं-

नं० १ **निवत्ती**—जिन कर्मोंका ऐसा बंध हो कि उनका संक्रमण न किया जासके न उदीरणा की जासके किन्तु स्थिति अनुभागका उत्कर्षण या अपकर्षण होसके उन कर्मोंकी ऐसी स्थितिको निवत्ती कहते हैं।

नं० २ **निकाचित**—जिन कर्मोंका ऐसा बंध हो कि न तो संक्रमण हो और न उदीरणा हो न स्थिति अनुभागका उत्कर्षण या अपकर्षण हो, अर्थात् वे जैसे बांधे थे वैसे ही फल लेकर झड़ें, उन कर्मोंकी ऐसी स्थितिको निकाचित कहते हैं।

जीवोंके ५ प्रकारके भाव।

जीवोंके असाधारण भाव ५ प्रकारके होते हैं—१ औपशमिक, क्षायिक, ३ क्षायोपशमिक, ४ औदयिक और ५ पारणामिक।

क्षेत्रको रोकता है। जितने आकाशके क्षेत्रको मापकर या रोककर द्रव्य रहता है वही उस द्रव्यका आकार है। साधारण लोग यही समझते हैं कि जड़ मूर्तीक द्रव्यका आकार तो होसकता है। किंतु अमूर्तीक द्रव्यका आकार नहीं होसकता। उनको ऐसा ही अनुभव है। चौकी, कुरसी, मेज, कलम, किताब, कपड़ा, बाक्स आदि स्थूल पदार्थ आकार-वान दीखते हैं। जैसे इन दीखनेवाली चीजोंका आकार है वैसे ही न दिखनेवाले हरएक मूर्तीक तथा अमूर्तीक द्रव्यका आकार होता है। क्योंकि हरएक द्रव्य आकाशमें है। निराकार कोई वस्तु नहीं है। जिसका कोई आकार नहीं हो वह कोई वस्तु नहीं होसकती है।

इन छः साधारण गुणोंसे यह सिद्ध है कि हरएक जीव या अजीव द्रव्य सदा बना रहता है। वह कुछ काम करता है, वह अव-स्थाओंमें परिणमन करता है, वह किसीके द्वारा जाना जाता है, वह कभी अपनी मर्यादाको कम या अधिक नहीं करता है। अपने भीतर जितने गुण होते हैं, उनको लिये रहता है तथा कुछ न कुछ आकार रखता है।

ऊपर कहे हुए छहों द्रव्योंमें ये छहों गुण पाए जाते हैं, इस-लिये छहों द्रव्य समान हैं, तौ भी असाधारण या विशेष गुणोंके कारण ये सब भिन्न हैं।

द्रव्योंके विशेष गुण—जीवके विशेष गुण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि हैं। हरएक जीव जाननेवाला है, देखनेवाला है, परमानन्द-मय है व अनंतशक्तिको रखनेवाला है। पुद्गलके विशेष गुण स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि हैं। परमाणु व स्कंधोंको पुद्गल कहते हैं। परमाणुओंके

जब प्राप्त होजाता है तब ये आत्मतत्वके मननके अभ्यासका पुरुपार्थ करता है।

पुरुपार्थ करते करते जब अनंतानुबन्धी कपाय और मिथ्यात्वका उदय उपशम होजाता है अर्थात् दब जाता है तब उपशम सम्यक्त प्राप्त होजाता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त है, पीछे छूट भी सकता है व क्षयोपशम सम्यक्तमें बदल सक्ता है, छूटनेपर भी पुनः ये प्राप्त होजाता है। इस सम्यक्तके होते हुये मोक्षपुरुपार्थकी कुंजी हाथ आ जाती है। ये उपशम सम्यक्त चौथे गुणस्थानसे ११ वें तक रह सकता है। ७ वें गुणस्थानमें क्षयोपशम सम्यक्तसे जो उपशम सम्यक्त होता है उसको द्वितीयोपशम कहते हैं।

उपशम चारित्र—चारित्रमोहनीय कर्मके उपशमसे प्रगट होता है। उपशम श्रेणीके ८ वें ९ वें १० वें ११ वें गुणस्थानमें यह रहता है। इसकी स्थिति भी अंतर्मुहूर्त है। ११ वेंसे गिरकर नीचे ७ वें तक आ जाता है। जब कपायका उदय हो जाता है तो उपशम चारित्र नहीं रहता। आठों कर्मोंमेंसे मुख्यतासे मोहनीय कर्ममें उपशम भाव होता है।

२ क्षयोपशमिक भाव—ये १८ प्रकारका होता है:—

४ ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान। **३ अज्ञान**—कुमति, कुश्रुति, कुअवधिमिथ्यात्व सहित ज्ञानको कुज्ञान कहते हैं, सम्यक्त सहितको ज्ञान कहते हैं। साधारण जीवोंको कुमति कुश्रुति दो ज्ञान होते हैं। इन्हीं दोनों ज्ञानोंके पुरुपार्थ करनेसे जब सम्यग्दर्शनका उदय होता है तब वे ही ज्ञान मति व श्रुत होजाते हैं,

मिलने पर नाना प्रकार स्कंध बनते हैं। स्थूल दीखनेवाले स्कंधोंमें ये चारों गुण प्रगट हैं। एक आमका फल है। उसमें चिकना या ठंडा स्पर्श है, मीठा रस है, सुगंध है, पीला वर्ण है। इन चार विशेष गुणोंसे कोई परमाणु या स्कंध रहित नहीं है।

हमारी मोटी बुद्धिमें कहीं कोई प्रगट होते हैं कहीं कोई प्रगट नहीं होते हैं। धर्मास्तिकाय या धर्मद्रव्यका विशेष गुण गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलोंमें गमन सहकारीपना है। धर्मद्रव्य उदासीन सहकारी कारण है। इतना आवश्यक है कि इसके विना कोई जीव या पुद्गल हिल या चल नहीं सक्ता है। अधर्मास्तिकाय या अधर्म द्रव्यका विशेष गुण ठहरते हुए जीव तथा पुद्गलोंको ठहरनेमें सहकारी होता है। यह द्रव्य उदासीनपने निमित्त कारण है। इसके विना कोई जीव या पुद्गल ठहर नहीं सकता है।

आकाश द्रव्यका विशेष गुण सर्व द्रव्योंको अवगाह या स्थान देना है। यह सबसे बड़ा व्यापक अनंत द्रव्य है। इसीके भीतर और सब द्रव्य रहते हैं।

काल द्रव्यका विशेष गुण द्रव्योंकी अवस्था पलटनेमें या वर्तनेमें निमित्त होता है।

छह द्रव्योंमें जीव, पुद्गल खास काम करनेवाले हैं। इन दोनोंको मदद देनेवाले अन्य चार द्रव्य हैं। संसार दशामें सर्व ही जीव दैव या पुण्य पापमय सूक्ष्म कार्मण शरीरके साथमें हैं। कोई जीव शुद्ध नहीं है। संसारी जीवोंके व जड़ पुद्गल द्रव्यके काम हमारे सामने दीखते हैं। शेष चार द्रव्य नहीं दीखते हैं उनको अनुमानसे मानना

१ असिद्धत्व—आठों कर्मोका नाश होकर जहां तक सिद्ध अवस्था नहीं प्राप्त होती वहांतक यह भाव रहता है।

६ लेश्या—कषायोंके उदयसे रंगी हुई योग प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। ये ६ प्रकार है–१ कृष्ण, २ नील, ३ कापोत, ४ पीत, ५ पद्म, ६ शुक्ल। ये ६ जीवोंके शुभ अशुभ भावोंके दृष्टान्त हैं। पहिली ३ अशुभ हैं। सबसे खराब कृष्ण लेश्याके परिणाम होते हैं। उससे कम नील लेश्याके, उससे कम कपोत लेश्याके। शेष ३ शुभ हैं। पीत लेश्याके परिणाम सबसे कम शुभ हैं; उससे अधिक पद्म लेश्याके, उससे अधिक शुक्ल लेश्याके परिणाम होते हैं। लेश्यायें इस वास्ते कही जाती हैं कि उनसे ही कर्मोका बंध होता है

छहों लेश्याओंके नीचे लिखे दृष्टान्त हैं—

किसी जंगलमें ६ पुरुष जारहे थे। उन्हें एक फलसे युक्त आमका पेड़ दिखा। छहों आदमी छहों लेश्यावाले थे, उनमें कृष्ण लेश्यावालेके परिणाम हुये कि मैं इस वृक्षको जड़ मूलसे उखाड़ डालूं। नीललेश्यावालेके यह भाव हुये कि मैं जड़को छोड़कर तनेसे काट डालूं। कपोत लेश्यावालेके भाव हुये कि मैं बड़ी शाखाओंको काट डालूं। पीतलेश्यावालेके भाव हुये कि सिर्फ आमवाली टहनियोंको तोड़लूं। पद्म लेश्यावालेके भाव हुये कि पके आमोंको ही तोडूं। शुक्ललेश्यावालेके भाव हुये कि पृथ्वीपर पड़े हुये आमोंको ही ग्रहण करूं, तोडूं नहीं।

इस प्रकार २१ प्रकारके औदयिक भाव होते हैं। इनमें और भी औदयिक भाव गर्भित हैं। औदयिक भावको ही दैव कहते हैं। उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक भाव पुरुषार्थ हैं। उनसे औदयिक भावोंको

पड़ता है। ये दोनों खास काम करनेवाले चार प्रकारके काम करते दिखाई पड़ते हैं। (१) गमन करना या हिलना, (२) ठहर जाना, (३) स्थान पाना, (४) बदलना। हरएक कामके लिये दो कारणोंकी जरूरत पड़ती है—एक उपादान या मूल कारण, दूसरे निमित्त या सहायक कारण। दो कारणोंके विना कोई काम नहीं होता है। जैसे घड़ेके बननेमें उपादान कारण मिट्टी है, निमित्त कारण चाक आदि हैं। सुवर्णका कड़ा बननेमें उपादान कारण सुवर्ण है, निमित्त कारण सुनारके शस्त्र व अग्नि आदि हैं। गेहूंकी रोटी पकनेमें उपादान कारण गेहूं व निमित्त कारण चकला, तवा, आग आदि हैं। इस जगतके नियमके अनुसार ऊपर कहे हुए चारों कामोंके उपादान कारण ये जीव और पुद्गल स्वयं हैं। निमित्त कारण खास शेष चार द्रव्य हैं। गमन ये निमित्त धर्म द्रव्य हैं, ठहरनेमें निमित्त अधर्म द्रव्य हैं। जगह पानेमें निमित्त आकाश द्रव्य है। बदलनेमें निमित्त काल द्रव्य है। विना छह द्रव्योंको माने हुए संसारका काम चल नहीं सक्ता है। इन छहोंमें केवल एक पुद्गल द्रव्य matter substance मूर्तीक material हैं, शेष जीव आदि पांच द्रव्य अमूर्तीक immaterial हैं।

आत्माका स्वभाव—हरएक आत्माका स्वभाव शुद्ध है। हरएक आत्मा ईश्वर या परमात्मा स्वरूप है। जैसे पानीका स्वभाव निर्मल है। हजार वर्तनोंमें पानी भरा हो और उन सबमें भिन्न २ प्रकारके रंग मिले हों तब हजार वर्तनोंमें रंगीन पानी दीख पड़ेगा व वे रूप रंग कहलाएंगे तौ भी असलमें सब वर्तनोंमें पानी अलग है। मिला हुआ रंग अलग है। दो वस्तु या अनेक वस्तु मिली हुई हों

(१) असिकर्म—प्रजाकी रक्षाके लिए रक्षकोंकी आवश्यक्ता है। दुष्टोंके निग्रहके लिए शस्त्रकी जरूरत है; इसलिये असि कर्मकी आजीविका भी जरूरी है।

(२) मसिकर्म—हिसाब किताब, चिट्ठी पत्री लिखनेका काम भी आवश्यक है। इसके विना दुनियाका व्यवहार नहीं चल सकता।

(३) कृषिकर्म—अन्न पैदा करनेके लिये खेतीकी जरूरत है। अन्न प्रजाके प्राण हैं।

(४) वाणिज्यकर्म—भिन्न भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न प्रकारका माल पैदा होता है और भिन्न भिन्न प्रकारका बनता है। वस्तु एक स्थानसे दूसरे स्थान पर ले जाकर पहुंचानेकी जरूरत है। इसलिए व्यापारकी आवश्यकता है।

(५) शिल्पकर्म—बढ़ई, लोहार, सुनार, थवई आदि कारीगरोंकी जरूरत है जो आवश्यक वस्तुओंको तय्यार करते हैं।

(६) विद्याकर्म—गाना बजाना, चित्रकारी आदि मनकी प्रसन्नताके लिए आवश्यक हैं।

इन छ: प्रकार आजीविकाके साधनोंमें और भी साधन गर्भित हैं। अपनी स्थिति मर्यादाके अनुसार उद्यम करना चाहिए। संतोषको रखके द्रव्य कमाना चाहिए। उद्यम करना बाहरी साधन है। पुण्यकर्मका उदय अंतरङ्ग निमित्त है। कर्मोंके दबनेसे जो ज्ञानकी शक्ति प्रकट है उससे हरएक प्रकारके कार्यको ठीक ठीक समझना चाहिए। आत्मबलसे उसके लिए उद्यम करना चाहिए। यही अर्थ पुरुषार्थ है।

उद्योग करे विना अर्थका साधन नहीं हो सकता। जो आलसी

उनको देखनेकी दो दृष्टियां या अपेक्षाएं या नय standpoints हैं एक निश्चय नय या असली या सच्ची दृष्टि real point of view दूसरी व्यवहार नय या लौकिक दृष्टि या असत्य या अशुद्ध दृष्टि practical point of view हजार रंगीन पानीके वर्तनोंमें निश्चय-नयसे केवल पानी ही पानी दीखता है। शुद्ध असली पानी दिखता है, व्यवहारनयसे रंग दिखता है, उसी तरह संसारी आत्माएं कर्म मैलसे विचित्र प्रकारसे मिली हुई हैं, निश्चयनयसे देखा जावे तो सब शुद्ध अपने स्वभावमें दीखती हैं, व्यवहारनयसे नाना प्रकार अशुद्ध दीखती हैं व कहलाती हैं। कोई क्रोधी, कोई मानी, कोई मायावी, कोई लोभी, कोई शोकी, कोई हर्षित, कोई विशेष ज्ञानी, कोई कम ज्ञानी, कोई अज्ञानी। शरीरकी अपेक्षा कोई पशु, कोई पक्षी, कोई स्त्री, कोई पुरुष आदि। दोनों दृष्टियोंसे आत्माको जानना चाहिये, पहले हम निश्चयनयसे आत्माका स्वभाव या सच्चा स्वरूप विचारते हैं।

आत्माका स्वभाव।

आत्मा स्वभावसे परम शुद्ध है, जैसे निर्मल जल स्वभावसे निमित्त है। शुद्ध पानी निर्मल, मीठा, शीतल होता है, वैसे यह आत्मा स्वभावसे निर्मल ज्ञाता-दृष्टा निर्विकार वीतराग आनन्दमय परमात्मारूप है। इसके छः विशेष स्वभावोंका विचार यहां करते हैं। १–ज्ञान, २–दर्शन, ३–सम्यक्त्त, ४–चारित्र, ५–वीर्य, ६–सुख।

ज्ञानदर्शन—जो सब जाननेयोग्यको जान सके वह ज्ञान है, जो सब देखनेयोग्यको देख सके वह दर्शन है। सामान्य चेतनभावको दर्शन, विशेष चेतनभावको ज्ञान कहते हैं। हरएक पदार्थ सामान्य

अध्याय आठवां ।

मोक्ष पुरुषार्थ ।

धर्म-पुरुषार्थमें यह बात बता चुके हैं कि मुनिधर्म पालन करनेसे ज्ञानी जीव सर्व कर्मोंका क्षय करके मोक्षको प्राप्तकर सक्ता है; अर्थात् सर्व दैवको संहारकर अपने स्वरूपका लाभ कर सक्ता है। इसीसे यह सिद्ध है कि दैवसे पुरुषार्थ बड़ा है । यदि ऐसा न हो तो कोई कभी मुक्त नहीं होसक्ता है । बात यह है कि दैवका बनानेवाला भी यह आत्मा है और नाश करनेवाला भी यह आत्मा है। पहले बता चुके हैं कि यह आत्मा धर्म पुरुषार्थसे प्रथम अरहन्त फिर सिद्ध होजाता है ।

मुक्त अवस्थामें सिद्ध भगवान सदा ही अपने स्वरूपमें मगन रहते हैं । किसीसे रागद्वेष नहीं करते । परम समता भावमें तन्मय रहते हैं। आपसे आपको अनुभव करते हुए उसीका स्वाद लेते हैं। किसी कर्मके सम्बन्ध न होनेपर राग द्वेष मोह उनमें नहीं होता इसलिए पाप पुण्यका बंध भी नहीं होता । इसलिए सिद्ध अवस्थासे फिर संसारी अवस्था नहीं होती । जैसे भुना हुआ चना फिर उगता नहीं ।

सिद्ध परमात्मा वास्तवमें सचे ईश्वर हैं । उनमें कोई तृष्णा कोई इच्छा भी नहीं होती; न कोई संकल्प विकल्प होता है । इसलिए वह कोई लौकिक काम नहीं करते हैं न किसीको सुखदु ख देते हैं। वे निर्विकार समदर्शी बने रहते हैं । जगतके प्रपंचजालसे उनका कोई

विशेषरूप है, शुद्ध ज्ञानदर्शन सबको एकसाथ जानते व देखते हैं। संसारी आत्माएं मैली हैं उनके ज्ञानदर्शन स्वभावपर परदा है। जितना परदा जिसका दूर हुआ है उतना ही वह जानता देखता है। एक बालक बहुत कम जानता है, विद्या पढ़नेसे व अनुभवसे ज्ञानी हो जाता है। उसके भीतर ज्ञानकी वृद्धि कैसे हुई? ज्ञानके होनेमें बाहरी कारण अध्यापकगण व पुद्गलमें है, भीतरी कारण अज्ञानका परदा हटता है। ज्ञान ऐसा गुण है जो भीतरसे ही विकास पाता है, कोई बाहरसे दे नहीं सक्ता। देन लेन ज्ञानमें नहीं होता है। जहां देन लेन होता है वहां एक जगह घटती होती है तब दूसरी जगह बढ़ती होती है। जैसे—धनके देन लेनमें होता है। किसीके पास हजार रुपये हैं, यदि वह १००) सौ देता है उसके पास ९००) नौसौ रह जाते हैं तब पानेवालेको सौ मिलते हैं। ज्ञानमें ऐसा नहीं होता है। यदि ऐसा देनलेन हो तो पढ़ानेवाले ज्ञानमें घटे तब पढ़नेवाले ज्ञानमें बढ़े। ज्ञानके सम्बन्धमें देनेवाले व पानेवाले दोनों ही ज्ञानको बढ़ाते हैं। पढ़ानेवालोंका ज्ञान भी साफ होता हैं, कम नहीं होता हैं। पढ़नेवालोका ज्ञान तो बढ़ ही जाता हैं। दोनो तरफ बढ़ती होनेका कारण दोनो तरफ भीतरसे अज्ञानका नाश है। ज्ञानके ऊपरसे मैलका दूर होना है। इससे सिद्ध है कि पूर्ण ज्ञानकी शक्ति हरएक आत्मामें है। जिसका जितना अज्ञान हटता है उतना वह जानता है। परमात्माको सर्वदर्शी व सर्वज्ञ इसीलिये कहते हैं कि उसका ज्ञानदर्शन शुद्ध हैं, उनपर कोई रज या मल नहीं हैं। परमात्मा विश्वके सर्व पदार्थोंको जानते हैं। उनकी भूत, भावी, वर्तमान, तीनों कालोंकी

अवस्थाएं जानता है, परमात्माके ज्ञानसे कोई बात बाहर नहीं है। ऐसा ही स्वभाव हरएक आत्माका है। यदि कर्मरज न होवें तो हरएक आत्मा सर्वज्ञ व सर्वदर्शी होजावे। इसकी खोज करनेवाले भीतरसे गम्भीर खोजें कर डालते हैं। बड़े २ विद्वान चकित रहते हैं, योगाभ्यासमें भूत व भविष्यका ज्ञान होजाता है। ज्ञानदर्शन गुणमें विकाश होता है। बाहरसे कुछ भीतर आता नहीं। इससे ज्ञानदर्शन स्वभावमें पूर्ण हरएक आत्मामें है, यह बात विश्वास करनेयोग्य है।

सम्यक्त—यह भी आत्माका एक गुण है जिसके द्वारा आत्माको अपने स्वभावकी यथार्थ प्रतीति होती है। जैसा वस्तुका स्वभाव है वैसा ही श्रद्धा करना सम्यक्त है। जगतके सर्व ही जीव तथा अजीव पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपकी श्रद्धा इस गुणके द्वारा होती है। आत्मा स्वभावमें आते ही स्वरूपका अनुभव लेता रहता हुआ परमानंदमें मगन रहता है। इस स्वानुभवके होनेमें सम्यक्त गुण परम सहायक है।

चारित्र—चारित्र गुण परम वीतराग व शांतभावको कहते हैं। आत्माका स्वभाव जलके समान परम शीतल है, परम शांत है। इसके भीतर क्रोध, मान, माया, लोभ, कषायोंके विकार नहीं हैं। यह बात भी प्रत्यक्ष प्रगट है कि क्रोधादिभाव दोष हैं, उपाधि हैं, या मैल हैं व बुरे हैं। कोई साधारण मानव भी इनको अच्छा नहीं कहेगा। जब कि इनके विरोधी गुणोंको क्षमा, विनय, सरलता व सन्तोषको सब कोई पसंद करेगा। अशांति किसीको भी अच्छी नहीं लगती है। ज्ञान आत्माका मुख्य गुण है। उसके साथ जितने गुण रहेंगे वे निजके सहायक रहेंगे, बाधक नहीं रहेंगे। ज्ञानके साथ शांतभावकी

मित्रता है, क्रोधादिकी नहीं है। क्रोधादिक ज्ञानके काममें बाधक हैं। क्रोधके समय कोई शिक्षा नहीं ग्रहण होती है, कोई तत्वकी पुस्तक समझमें नहीं आती है। क्रोधके होनेपर ज्ञानपर ऐसा मैल या विकार आजाता है कि क्रोधी मानव अनुचित विचार करता है। अयोग्य वाणी कहता है व बुरा वर्ताव करनें लगता है। क्रोधमें प्राणी अंधा होजाता है, आपेसे बाहर होजाता है। क्रोध अग्निके समान आत्मीक गुणोंको दग्ध कर देता है। ज्ञानके प्रसारका परम वैरी है।

मान भी ज्ञानको कठोर कर देता है। मानी मानव शिक्षा नहीं ग्रहण करता है। जैसे कठोर पाषाणके भीतर जलका असर नहीं होता है, वह पाषाण जलको नहीं ग्रहण करता है। जल ऊपरसे ही वह जाता है, इसी तरह मानी मानवको दी हुई शिक्षा व्यर्थ जाती है। मानी ज्ञानके विकासको नहीं कर पाता है। मानके कारण ज्ञानका विस्मरण हो जाता है। परीक्षा देते हुए मानी विद्यार्थी भूल जाते हैं तब परीक्षामें सफल नहीं होते हैं। मानीका शास्त्र ज्ञान विपरीत काम करता है। ज्ञानके कारण नम्रता रहनी चाहिये परन्तु मानीका ज्ञान मद बढ़ता जाता है। जाति, कुल, रूप, बल, विद्या, धन, अधिकार, तप इन आठ प्रकारके बलोंका मद जिनको होजाता है वे कठोर होकर जगतमें तुच्छ व हीन झमझे जाते हैं। जैसे पर्वतपर चढ़ा हुआ मानव नीचेके मानवोंको छोटा देखता है तव नीचेका मानव भी उसको छोटा देखता है। मानी दूसरोंको तुच्छ देखता है तव दूसरे भी उसको हीन देखते हैं। मान भाव किसी भी तरह आत्माका मित्र नहीं है, आत्माकी शोभा नम्रता या मार्दव गुणसे ही है।

माया—कषाय भी ज्ञानको मैला कर देता है, कुटिल बना देता है। मायाचारी अच्छी शिक्षा ग्रहण नहीं करता है। ज्ञानका बुरा उपयोग करता है। परको ठगता है। मायाचारीके परिणामोंमें सदा आकुलता व भय बना रहता है। इस कारण ज्ञानकी निर्मलता नहीं रहती है। सरलतासे जो ज्ञानका विकास होता है वह माया कषायके कारण बंद हो जाता है, माया भावके कारण किया गया शास्त्र पठन, जप, तप, धर्माचरण सब अपने फलको नहीं देते हैं, उनसे भावोंकी स्वच्छता नहीं होती है।

लोभ—कषाय सर्व विकारोंका मूल है। लोभसे प्राणी अन्धा होकर धर्मोपदेशको भूल जाता है। अन्याय व असत्यका दोष उसके मन, वचन, कायके वर्तनमें हो जाता है। लोभ कषाय आत्माको पांचों इन्द्रियोंके भोगमें प्रेरित करता है तब न्याय अन्यायका विचार जाता रहता है, भोग सामग्रीको चाहे जिस तरह प्राप्त करता है, भोगासक्त होकर तृष्णाका रोग बढ़ा लेता है। चाहकी दाहमें जला करता है। इष्ट विषयोंके न पानेपर आकुलित होता है, इष्ट विषयोंके वियोगपर शोक करता है, मर्यादाका ध्यान नहीं रहता है। जितना २ धनादिका संग्रह होता जाता है और अधिक चाहको बढ़ा लेता है। सन्तोषसे जो सुख मिलता है वह लोभके विकारसे नाश हो जाता है।

इस तरह चारों ही कषायभाव आत्माके भीतर मैल पैदा करते हैं, आत्माका चारित्र गुणका शांतभाव बिगड़ जाता है। ज्ञान गुणको विकारी बना देते हैं। इसलिये यह बात निश्चय करना चाहिये कि आत्माका स्वभाव परम शांतभाव या वीतरागभाव है या चारित्र

है। शांत भाव रहते हुए ज्ञानका विकास होता है। शांत भावमें तत्वोंका मनन होता है। शांतभाव भावोंको निराकुल व निर्मल रखता है।

वीर्य—वीर्य भी आत्माका स्वभाव है। आत्मामें अनंत बल है, जिससे इसके सर्व ही गुण पुष्ट रहते हैं। यह अपने वीर्यसे सदा ही स्वभावके भोगमें तृप्त रहता है। संसारी आत्माओंमें वीर्यकी जितनी प्रकटता होती है उतना ही अधिक उत्साह बना रहता है। हरएक काममें साहसकी जरूरत है। यही आत्मवीर्य है। आत्माके बलसे ही शरीरके अंग उपंग काम करते हैं। आत्माके निकल जानेसे शरीर बेकाम मुरदा होजाता है। शरीरमें बहुत बल होनेपर भी यदि आत्मबल न हो तो युद्धमें सिपाही काम नहीं कर सक्ता है। व्यापारी व्यापार नहीं कर सक्ता है। बड़े बड़े काम साहससे ही होते हैं। ज्ञानका काम जाननेका है। वीर्यका काम ज्ञानके प्रमाण क्रिया करनेका है। यदि आत्मामें मैल न हो तो यह वीर्य गुण पूर्ण प्रकाश रहे। परमात्मामें कोई मैल नहीं है। इसीसे उसमें अनंत बल सदाकाल रहता है। आत्म वीर्यको भी आत्माका स्वभाव निश्चय करना चाहिये।

सुख—या परमानंद भी आत्माका मुख्य गुण है। जहां ज्ञानमें शांति रहती है वहां सुख गुणका प्रकाश रहता है। परमात्मामें कोई विकार या अशांति नहीं है, इससे यहां अनंत सुख सदा बना रहता है। यह सुख स्वाधीन है। किसीके पराधीन नहीं है।

जैसे ज्ञान, चारित्र, आत्माका गुण है वैसे ही सुख आत्माका खास गुण है। संसारी जीवोंको जो इन्द्रियोंके भोगसे सुख भासता है वह उसी सुख गुणका अशुद्ध झलकाव है। इन्द्रिय सुखसे कभी तृप्ति

माया—कषाय भी ज्ञानको मैला कर देता है, कुटिल बना देता है। मायाचारी अच्छी शिक्षा ग्रहण नहीं करता है। ज्ञानका बुरा उपयोग करता है। परको ठगता है। मायाचारीके परिणामोंमें सदा आकुलता व भय बना रहता है। इस कारण ज्ञानकी निर्मलता नहीं रहती है। सरलतासे जो ज्ञानका विकास होता है वह माया कषायके कारण बंद हो जाता है, माया भावके कारण किया गया शास्त्र पठन, जप, तप, धर्माचरण सब अपने फलको नहीं देते हैं, उनसे भावोंकी स्वच्छता नहीं होती है।

लोभ—कषाय सर्व विकारोंका मूल है। लोभसे प्राणी अन्धा होकर धर्मोपदेशको भूल जाता है। अन्याय व असत्यका दोष उसके मन, वचन, कायके वर्तनमें हो जाता है। लोभ कषाय आत्माको पांचों इन्द्रियोंके भोगमें प्रेरित करता है तब न्याय अन्यायका विचार जाता रहता है, भोग सामग्रीको चाहे जिस तरह प्राप्त करता है, भोगासक्त होकर तृष्णाका रोग बढ़ा लेता है। चाहकी दाहमें जला करता है। इष्ट विषयोंके न पानेपर आकुलित होता है, इष्ट विषयोंके वियोगपर शोक करता है, मर्यादाका ध्यान नहीं रहता है। जितना २ धनादिका संग्रह होता जाता है और अधिक चाहको बढ़ा लेता है। सन्तोषसे जो सुख मिलता है वह लोभके विकारसे नाश हो जाता है।

इस तरह चारों ही कषायभाव आत्माके भीतर मैल पैदा करते हैं, आत्माका चारित्र गुणका शांतभाव बिगड़ जाता है। ज्ञान गुणको विकारी बना देते हैं। इसलिये यह बात निश्चय करना चाहिये कि आत्माका स्वभाव परम शांतभाव या वीतरागभाव है या चारित्र

है। शांत भाव रहते हुए ज्ञानका विकास होता है। शांत भावमें तत्वोंका मनन होता है। शांतभाव भावोंको निराकुल व निर्मल रखता है।

वीर्य—वीर्य भी आत्माका स्वभाव है। आत्मामें अनंत बल है, जिससे इसके सर्व ही गुण पुष्ट रहते हैं। यह अपने वीर्यसे सदा ही स्वभावके भोगमें तृप्त रहता है। संसारी आत्माओंमें वीर्यकी जितनी प्रकटता होती है उतना ही अधिक उत्साह वना रहता है। हरएक काममें साहसकी जरूरत है। यही आत्मवीर्य है। आत्माके बलसे ही शरीरके अंग उपंग काम करते हैं। आत्माके निकल जानेसे शरीर बेकाम मुरदा होजाता है। शरीरमें बहुत बल होनेपर भी यदि आत्मबल न हो तो युद्धमें सिपाही काम नहीं कर सक्ता है। व्यापारी व्यापार नहीं कर सक्ता है। बड़े बड़े काम साहससे ही होते हैं। ज्ञानका काम जाननेका है। वीर्यका काम ज्ञानके प्रमाण क्रिया करनेका है। यदि आत्मामें मैल न हो तो यह वीर्य गुण पूर्ण प्रकाश रहे। परमात्मामें कोई मैल नहीं है। इसीसे उसमें अनंत बल सदाकाल रहता है। आत्म वीर्यको भी आत्माका स्वभाव निश्चय करना चाहिये।

सुख—या परमानंद भी आत्माका मुख्य गुण है। जहां ज्ञानमें शांति रहती है वहां सुख गुणका प्रकाश रहता है। परमात्मामें कोई विकार या अशांति नहीं है, इससे वहां अनंत सुख सदा वना रहता है। यह सुख स्वाधीन है। किसीके पराधीन नहीं है।

जैसे ज्ञान, चारित्र, आत्माका गुण है वैसे ही सुख आत्माका खास गुण है। संसारी जीवोंको जो इन्द्रियोंके भोगसे सुख भासता है वह उसी सुख गुणका अशुद्ध झलकाव है। इन्द्रिय सुखसे कभी तृप्ति

नहीं होती है। कुछ इच्छा पूरी होती है तब दूसरी इच्छा पैदा हो-जाती है। इच्छाओंका प्रवाह बढ़ता जाता है, आयु पूरी होजाती है। यह सुख पराधीन है। इच्छानुकूल पदार्थोंके मिलनेपर ही होता है। स्वाभाविक सुख ज्ञानीको स्वाधीनतासे मिल सकता है। यह सुख इच्छाओंके त्यागसे तथा स्वार्थत्यागसे प्रगट होता है। जो लोग विना किसी स्वार्थके या लौकिक प्रयोजनके जगतके उपकारके लिये अपने तन, मन, धन व शक्तिका उपयोग करते हैं, परोपकार या दान करते हैं, उनको अपने भीतर विना चाहे भी सुखका स्वाद आता है। इन्द्रियोंके भोग विना भी सुख प्रगट होता है। यही सुख गुणका कुछ निर्मल प्रकाश है। अन्धेको रोटी देते हुए, रोगीकी सेवा करते हुए, पानीमें डूबतेको बचाते हुए, स्वयंसेवकका कर्तव्य बजाते हुए, भीतरमें सुखका अनुभव होता है। परमात्मामें कोई मैल नहीं है, कोई इच्छा या तृष्णा नहीं है, इसलिये परमात्माको अनन्त व शुद्ध सुख हरसमय रहता है। हरएक आत्मा भी स्वभावसे ऐसा ही है।

इस तरह हरएक आत्मा परमात्माके समान स्वभावसे या असलमें पूर्ण ज्ञाता है, पूर्ण दृष्टा है, निर्मल श्रद्धावान या सम्यक्ती है, पवित्र चारित्रवान या परम वीतराग है, अनंत वीर्यवान तथा अनंत सुखी है। यह आत्मा अपने अविनाशी चार प्राणोंका धारी है। वे प्राण हैं— सुख, सत्ता (सदा बने रहना), चैतन्य (अपना ही स्वाद लेना), बोध (ज्ञान)। शुद्ध ज्ञान व दर्शन उपयोगका धनी है, अमूर्तीक है, अपने ही शुद्ध भावोंका करनेवाला है, स्वभावसे राग-द्वेषादि भावोंका व पुण्यका करनेवाला नहीं है, अपने ही अतीन्द्रिय सत्य सुखका भोगने-

वाला है। स्वभावसे सांसारिक इन्द्रिय सुखका भोगनेवाला नहीं है, हरएक आत्माका आकार लोकप्रमाण फैलनेका है, तौभी शरीरके भीतर शरीरप्रमाण ही रहता है। पूर्व बांधे हुए कर्मके उदयसे इसके आकारका संकोच या विस्तार होसक्ता है। कर्मका उदय न हो तो अन्तिम शरीरके आकार बना रहता है।

संसार दशामें आत्माके साथ अनादिकालसे दैव या पुण्य पाप-कर्मका संयोग है, इसलिये इसका स्वभाव शुद्ध

आत्माका विभाव। या पूर्ण प्रगट नहीं है। चार प्रकारके कर्म ऐसे हैं जो स्वभावका बिगाड़ करते हैं, उनको घातीय कर्म कहते हैं। १—ज्ञानावरण कर्म ज्ञानको ढकता है, २—दर्शनावरण कर्म दर्शनको ढकता है, मोहनीय कर्म सम्यक्त तथा चारित्र गुणको विकारी बनाता है। अंतराय कर्म वीर्य गुणको ढकता है। चारों ही घातीय कर्म सुख गुणको ढकते हैं।

इन कर्मोंके परदेके हटनेसे कुछ स्वभाव प्रगट रहता है वह विलकुल शुद्ध नहीं होता है, इसलिये विभाव कहलाता है। ज्ञानावरण कर्मका जितना क्षयोपशम होता है अर्थात् जितना उदय नहीं रहता है उतना ज्ञानका विकास या प्रकाश होता है।

वह विभावज्ञान चार तरहका है—**मतिज्ञान**—इन्द्रिय या मनके द्वारा जानना, **श्रुतज्ञान**—मतिज्ञानसे जानकर श्रुतज्ञानके द्वारा अन्य पदार्थको जानना, जैसे घड़ीको जानकर घड़ी बनानेवालेका बोध होना, घोड़ा शब्द सुनकर घोड़ेको जानना। **अवधिज्ञान**—यह एक दिव्य ज्ञान है जिससे इन्द्रिय व मनकी सहायताके विना रूपी पदार्थोंका किसी

अवधि तक ज्ञान होता है। **मनःपर्यय ज्ञान**—यह भी दिव्यज्ञान है जिससे एक योगी महात्मा साधु दूरवर्ती मानवोंके मनकी सूक्ष्म रूपी वातोंको जान लेता है। साधारणमें संसारी सर्व ही प्राणियोंके पहले दो ज्ञान मति व श्रुत पाए जाते हैं। जितना ज्ञान प्रगट रहता है वह आत्माके ही ज्ञान गुणका अंश है, दैवका फल नहीं है, किन्तु दैवका अन्धकार दूर होनेपर प्रकाशकी झलक है।

इसी प्रगट ज्ञानको पुरुषार्थ कहते हैं। इस प्रकाशसे हरएक आत्मा स्वतंत्रतासे जाननेका काम कर सक्ता है। जितनी ज्ञानकी शक्ति ढकी है उतना ही अज्ञान रहता है। **दर्शनावरण** कर्मका जितना क्षयोपशम रहता है अर्थात् जितना उसका उदय नहीं रहता है उतना दर्शन गुणका प्रकाश होता है। वह विभावदर्शन तीन प्रकारका होता है। **चक्षुदर्शन**—आंखके द्वारा सामान्य अवलोकन। **अचक्षुदर्शन**—आंखको छोड़कर अन्य चार इन्द्रिय तथा मनसे सामान्य अवलोकन। **अवधिदर्शन**—यह दिव्य दर्शन है जो आत्माहीके द्वारा अवधिज्ञानकी तरह होता है। जितना दर्शनगुण प्रगट रहता है उतना पुरुषार्थ है। स्वभावरूप ज्ञानको **केवलज्ञान**, स्वभावरूप दर्शनको **केवलदर्शन** कहते हैं।

इस तरह सर्व ज्ञान पांच प्रकार व दर्शन चार प्रकार हैं। मोहनीय कर्मके दो भेद हैं—**दर्शन मोहनीय** और **चारित्र मोहनीय**। दर्शन मोहनीय सम्यक्त गुणको घात करता है। जबतक यथार्थ प्रतीति आत्मा और अन्य पदार्थोंके सत्य स्वरूपकी न हो तबतक सम्यक्त गुणका विपरीत भाव मिथ्यात्व प्रगट रहता है। जब इस मिथ्यात्व

भावका बहुत जोर होता है तब इस प्राणीको धर्मकी तरफ, सत्य आत्मकल्याणकी तरफ रुचि नहीं होती है। यह संसारके विषयभोगोंका ही प्रेमी बना रहता है। वैराग्य भाव व शुद्ध आत्माका श्रद्धान नहीं जगता है। यह अज्ञानी होकर अपने सत्य स्वभावको भूले रहता है। दैव व कर्मका उदय सदा एकसा नहीं रहता है। जब कभी दर्शन-मोहनीय कर्मका उदय मंद पड़ता है तब कुछ २ लक्ष्य धर्मकी तरफ जाता है।

ज्ञानके साधक सत्य आगमके अभ्याससे व सत्य धर्मोपदेशक गुरुके उपदेशसे जब कुछ समझ बढ़ती है और यह अभ्यासी तत्वोंका वारवार मनन करता है, अपने ज्ञान व वीर्यके पुरुषार्थको काममें लेता है तब मिथ्यात्व भाव पलट कर सम्यक्त गुण प्रकाश हो जाता है। सम्यक्त गुणका प्रकाश होना एक और परमकल्याणकारी पुरुषार्थका लाभ हो जाना है। जब तक सम्यक्त गुण प्रगट नहीं होता है तबतक मिथ्यात्व भाव विभाव बना रहता है। इस मिथ्यात्व भावके कारण संसारी आत्मा अपनेको भूले रहता है, मोह ममतामें फंसा रहता है।

चारित्र मोहनीय—कर्म चारित्रको या शांत भावको घात करता है तब इस कर्मके उदयसे क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषायोंमेंसे कोई कषाय भावोंको मैला बनाए रहती है। ये चारों ही कषाय आत्माकी वैरी हैं। इनका भी उदय सदा एकसा नहीं रहता है। इन कषायोंके उदयका असर चार तरहका होता है–तीव्रतर, तीव्र, मंद, मंदतर। दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय दोनोंका उदय आत्माके भावोंको विकारी व मतवाला बना देता है। भीतरी दैव यही बाधक है। ज्ञान, दर्शन, वीर्य, गुण

है उतना आत्म वीर्य प्रगट रहता है व जितना अंतराय कर्मका उदय रहता है उतना वीर्य ढका रहता है। अपूर्ण वीर्यका प्रकाश भी विभाव है। स्वभाव तो अनन्त शुद्ध वीर्य है, जहां अंतराय कर्मका बिल्कुल नाश होजाता है। विभावमय अशुद्ध वीर्य भी पुरुषार्थ है। मन, वचन या काय द्वारा जितनी भी क्रियाएं होती हैं, अच्छी या बुरी उनमें वीर्य सहायक होता है। आत्मवीर्य न हो तो शरीर बलवान भी कुछ कर नहीं सक्ता—गिर जाता है। साहस, हिम्मत ये सब उस आत्मवीर्यके ही नाम हैं।

अंतराय कर्मका पूर्ण उदय किसी भी जीवमें नहीं होता है, सर्वथा वीर्यका नाश नहीं होता है। छोटेसे छोटे वनस्पति कायके जीवमें भी थोड़ासा आत्मवीर्य प्रगट रहता है, जिससे वह श्वास व अपना आहार लेता है। वीर्यके ही कारण संसारवर्द्धक काम होसक्ते हैं। वीर्यके ही प्रभावसे संसारनाशक काम होसक्ते हैं। जिनका आत्म-वीर्य विशेष होता है वे बड़े पराक्रमी व साहसी होते हैं, वे ही बुरासा बुरा काम करते हैं, वे ही फिर अच्छेसे अच्छा काम करने लग जाते हैं। वीर योद्धा नरेश जो युद्धकुशल होते हैं. वे ही वैराग्यवान होनेपर आत्मध्यानमें कुशल होते हैं। पहले वीर्यका उपयोग अन्य मार्गमें कर रहे थे, अब दूसरे मार्गमें करने लगे। वीर्य गुणका जितना भी प्रकाश है वही ज्ञानके समान हरएक आत्माके पास एक विशेष पुरुषार्थ है।

इसीके प्रतापसे एक दिन पुरुषार्थी आत्मा दैव या कर्मका सर्वथा क्षय करके परमात्मा हो जाता है। पूर्ण सुख गुणको या अनंत शुद्ध सुख गुणको रोकनेवाले ऊपर लिखित चारों ही घातीय कर्म हैं।

जब पूर्ण शुद्ध ज्ञान दर्शन प्रगट होता है तब प्रत्यक्ष आत्माका साक्षात् ज्ञान व दर्शन होता है तब अतीन्द्रिय आत्मामें थिरता अनंतवीर्यके गुण द्वारा होती है। मोहके क्षयसे सम्यक्त चारित्र गुण शुद्ध प्रगट होता है तब ही अनंत शुद्ध सुख गुणका प्रकाश होता है। जबतक इनका उदय होता है व तीन कर्म ज्ञानावरण दर्शनावरण व अंतरायका क्षयोपशम या जितना उदय नहीं होता है उतना अशुद्ध या अपूर्ण सुख गुण प्रगट रहता है। जहांतक पूर्ण शुद्ध अनंत सुख गुण न झलके वहांतक स्वभाव न होकर विभाव रहता है।

उस विभावरूप सुखके तीन भेद सांसारिक अशुद्ध दशामें प्रगट होते हैं—(१) इन्द्रियजनित सुख। रागी जीव रागमें इन्द्रियके भोगोंको जानकर उस भोगमें अपने वीर्यसे तन्मय हो जाते हैं तब रति करनेसे अतृप्तिकारी सुख वेदन होता है या कभी मनसे इष्ट पदार्थोंका चिन्तवन करके भी सराग सदोष सुखका अनुभव होता है। (२) दुःखका अनुभव जब इष्ट पदार्थका वियोग होता है व अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होता है तब इन्द्रिय या मन द्वारा उनका ज्ञान होते हुए वीर्य द्वारा उस कष्टको भोगा जाता है। इसमें अरति भावके द्वारा सुख गुणकी मलीन द्वेष रूप अवस्था प्रगट होती है इसीको दुःख, क्लेश, कष्ट या शोक कहते हैं। (३) सम्यक्तके चारित्र गुणके कुछ अंश शुद्ध होनेपर जब आत्मज्ञानी इन्द्रियोंसे व मनसे उपयोगको हटाकर अपने ही शुद्ध आत्माके स्वरूपमें जोड़ता है और आत्मानुभव झलकाता है तब आत्मीक सुखका वेदन होता है। यह सुख सच्चा है तो भी शुद्ध व पूर्ण न होनेसे विभाव है।

माना जाता है। तथा जब इस प्राणीको सुख या दुःख होता है तब यह अपनेको सुख या दुःखका भोगनेवाला माना करता है, व्यवहारमें ऐसा कहलाता है यह भी विभाव है। निश्चयसे या स्वभावसे यह आत्मा सांसारिक सुख दुःखका भोगनेवाला नहीं है, यह केवल अपने शुद्ध स्वाभाविक सुखका ही भोगनेवाला है। परका कर्ता व भोक्ता मानना मोह है, अज्ञान है।

सर्व प्रकारके विभाव भावोंमें मोहके द्वारा होनेवाले मोह राग द्वेष भाव ही विकार व बिगाड़ करनेवाले हैं, इन ही भावोंसे नए दैव या कर्मका संचय होता है। यदि कोई ज्ञानी इन रागद्वेष मोह भावोंको न करें, वीतरागी व समभावधारी रहें तो नवीन कर्मका बंध न हो। यथार्थ ज्ञानके व वीर्यके पुरुषार्थसे मोह भावोंको जीता जा सक्ता है व संचित दैव या कर्मका नाश किया जा सक्ता है।

संसारमें प्राणी दो प्रकारके हैं—सैनी असैनी। जिनके मन होता है वे सैनी हैं, जिनके मन नहीं होता है वे असैनी हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, आंख, कान इन पांच प्रकारकी इन्द्रियोंके सिवाय मन भी एक गुप्त इन्द्रिय है। जिसके मन होता है वह शिक्षा उपदेश ग्रहण कर सक्ता है, संकेत समझ सक्ता है, किसी कामके करनेके पहले ही उपाय या उसके फलको, कारण कार्यको, लाभ हानिको विचार कर सक्ता है। दीर्घ विचारकी शक्ति मन द्वारा होती है।

पांचों इन्द्रियोंको रखनेवाले सर्व मानव, देव, तथा नारकी सैनी होते हैं, इन सबके मन होता है। पांच इन्द्रियधारी जलचर, थलचर, व नभचर पशुओंमें दोनों तरहके प्राणी सैनी तथा असैनी होते हैं।

मगरमच्छ, गाय, भैंस, मृग, सिंह, घोड़ा, हाथी, बैल, ऊँट, कुत्ता, काक, कबूतर, मोर आदि सैनी होते हैं।

कितने ही जलचर, थलचर, नभचर पंचेन्द्रिय जीव असैनी होते हैं, तथा एकेन्द्रियसे चार इन्द्रिय तकके सर्व ही प्राणी असैनी होते हैं। असैनी मनकी शक्ति न रखकर कार्य कारणका तर्क बुद्धिसे विचार नहीं कर सकते हैं तौभी हितकी प्राप्ति व अहितसे बचनेकी बुद्धि रखते हैं व वैसा वर्तन भी करते हैं। मक्खी मिष्ट रसको ढूंढ़कर लाती हैं छत्तेमें जमा करती हैं। चींटियां दाना इकट्ठा करती है। सुगंध पाकर इष्ट खाद्यपर पहुंच जाती हैं। वृक्ष भी मिट्टी पानी घसीटते हैं।

चार संज्ञाएं सर्व ही प्राणी मात्रमें चाहे सैनी हो या असैनी पाई जाती हैं। १—आहारकी इच्छा व प्रयत्न, २—भयकी शंका व बचनेका यत्न, ३—मैथुनका भाव व स्पर्शका यत्न, ४—परिग्रह या शरीरादिमें ममता भाव। सैनी हिरण जंगलमें आग लगी देखकर भाग जायगा। अभी आग उसके पास नहीं आई तौभी वह मनसे विचार कर लेगा कि आग आनेवाली है इससे ऐसी जगह चले जाना चाहिये जहां आगका भय न हो।

मन रहित प्राणी पहलेसे विचार नहीं कर सकेगा। आग निकट आनेपर बचेगा तथा पतंगोंके समान आंखके विषयके लोलुपी असैनी आगकी लौमें पड़कर जल जाएंगे। दूसरे पतंगोंको जलता देखकर अपनेको भी जलना होगा ऐसा विचार नहीं कर पाते हैं। सैनी कबूतर युद्धक्षेत्रमें पत्र पहुंचाना तक सीख जाते हैं। कुत्ते, बन्दर, घोड़े, हाथी सीखकर बड़े२ आश्चर्ययुक्त खेल करते हैं। असैनी प्राणी शिक्षा-

सर्प आदि। ये छूकर, खाकर, सूंघकर, देखकर, व सुनकर जान सक्के हैं। इनके एक कान इन्द्रिय प्राण बढ़ जाता है, इससे नौ प्राण होते हैं।

पंचेन्द्रिय प्राणी सैनी—जैसे थलचर पशु, नभचर पक्षी व जलचर मत्स्य सर्व ही मनुष्य, देव, नारकी इन सबके दश प्राण होते हैं। मन बल बढ़ जाता है। सैनी प्राणियोंके भीतर मन बलकी शक्ति प्रबल होती है जिससे वे तर्क करके विचार कर सक्ते हैं व उपदेश ग्रहण कर सक्ते हैं। इसलिये इनमें पुरुषार्थकी मुख्यता है। ये प्राणी धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष चारों पुरुषार्थ कर सक्ते हैं। असैनी जीवोंमें कारण कार्यके विचार करनेकी शक्ति नहीं होती है। वे प्राणी दीर्घ विचार नहीं कर सक्ते हैं। अल्प बुद्धिके अनुसार हितकी तरफ जाते हैं। अहितसे बचते हैं। जितनी ज्ञान व वीर्यकी शक्ति प्रगट है उस पुरुषार्थसे उद्यम करते हैं। इन प्राणोंके जाननेका यह भी प्रयोजन है कि प्राणोंकी ही हिंसा होती है।

जीव तो कभी मरता नहीं। प्राणोंके बिगड़नेसे यह जीव शरीरसे काम नहीं कर सक्ता है। जिन प्राणियोंके प्राण कम है उनकी हिंसा कम है व जिनके प्राण अधिक हैं वे अधिक उपयोगी है उनकी हिंसा अधिक होती है। दयावालोंको यथाशक्ति हिंसासे बचना चाहिये।

ऊपर बता चुके हैं कि आत्माका स्वभाव परम शुद्ध है। स्वभावकी अपेक्षा यह सांसारिक किसी भी विचारको व कामको नहीं करता है। वह बड़े ज्ञाताद्रष्टा वीतरागी परमानंद मय सदा रहता है। वहां पुरुषार्थ व दैवका कोई विचार नहीं होता है। विभाव दशामें ज्ञाता

चार घातीय कर्मरूपी दैवका संयोग है वहांतक पुरुषार्थ व दैवका खास विचार है। विभाव दशामें जितनी शक्ति चारों घातीय कर्मोंके हटनेसे प्रगट होती है उसको पुरुषार्थ कहते हैं। जितनी शक्ति दैवकी चारों घातीय कर्मोंसे बनी रहती है उसको दैव कहते हैं।

परिणामोंमें या भावोंमें मोहनीय कर्मके उदयसे जो मिथ्यात्व भाव या क्रोध, मान, माया, लोभका मैल होता है, उसके कारण अभिप्राय या इच्छा या तृष्णाका उदय होता है। ज्ञान व वीर्यके द्वारा जो पुरुषार्थ प्रगट होता है उसके साथ इच्छाकी लड़ाई होती है। जो प्रबल होता है उसकी विजय हो जाती है। यदि ज्ञान व वीर्य निर्बल हुए तो इच्छाके अनुसार वर्ताव हो जाता है। हम मानवोंमें यह युद्ध भले प्रकार देखनेमें आता है। हरएक प्राणीको उन्नति करनेका साधन उसका ज्ञान व वीर्य है। हमें ज्ञानसे समझ कर व वीर्यके अनुसार कर्तव्य कर्मके लिये ही मन, वचन, कायको चलाना चाहिये। तब ही हम मोहके वेगोंसे बचकर आत्माके स्वभावको प्रकाश कर सकेंगे व सर्व दैव या कर्मका नाश कर सकेंगे। असलमें संसारी प्राणी स्वयं ही अपने राग द्वेष मोहके कारण कर्मोंका बंध या संचय करते हैं, स्वयं ही उनका फल भोगते हैं व स्वयं ही उनका क्षय या नाश कर सक्ते हैं। दैवके बनानेवाले भी हम हैं व बिगाड़नेवाले भी हम हैं।

अध्याय तीसरा

दैवका स्वरूप व कार्य।

जैन सिद्धांतके अनुसार दैव पुण्य पाप कर्मको कहते हैं जिसको यह प्राणी अपने राग द्वेष मोह या शुभ तथा अशुभ भावोंसे स्वयं संचय करता है। न कोई ईश्वरीय प्रवन्ध है न कोई अन्य प्रकारसे अदृष्ट है। हरएक आत्मा संसारमें अनादिकालसे एक सूक्ष्म शरीरको सदा ही साथ रखता है जिसको **कार्मण शरीर** कहते हैं। यह सदा ही बनता व विगड़ता रहता है। परन्तु जबतक मुक्ति न हो तबतक बिलकुल जुदा नहीं होता है। स्थूल शरीर मरनेपर घट जाता है परन्तु कार्मण देह साथ जाता है। इसी शरीरको कारण शरीर भी कह सक्ते हैं। सुख या दुःखका तथा सांसारिक दशाके बननेका यह ही कारण है।

कार्मण शरीर—लोकमें पुद्गल द्रव्य अनेक पर्यायोंमें भरा है। परमाणु तो ऐसे छोटेसे छोटे अंशको कहते हैं, जिसका फिर दूसरा खंड न हो सके। इन परमाणुओंमें परस्पर बंधकर स्कंध या पिंड molecule होनेकी शक्ति है। ये स्कंध बंधकी विचित्रतासे अनेक तरहके बनते हैं। कितने ही इतने सूक्ष्म होते हैं कि हमें अपनी पांचों इन्द्रियोंसे नहीं मालूम होते हैं, उनके कार्यको देखकर उनका पता चलता है। जगतके प्राणियोंके साथ ऐसे सूक्ष्म स्कंधोंमेंसे पांच प्रकारके स्कंधोंका विशेष सम्बन्ध है। इन स्कंधोंको **वर्गणाएं** कहते हैं।

१—**कार्मण वर्गणाएं**—इनसे कार्मण शरीर बनता है।

२–तैजस वर्गणाएं—इनसे तैजस शरीर (विजलीका शरीर) Eelectrical body वनता है। यह शरीर कार्मण शरीरके साथ-साथ रहता है।

३–मनोवर्गणाएं—इनसे द्रव्य मन mind organ हृदयके स्थानमें आठ पत्तोंके कमलके आकारका वनता है। इससे तर्क शक्तिमें मदद मिलती है।

४–भाषा वर्गणाएं—इनसे शब्द या बोली या आवाज वनती है।

५–आहारक वर्गणाएं—इनसे तीन शरीर वनते हैं। औदारिक–मनुष्य व तिर्यंचोंका स्थूल शरीर, वैक्रियिक–देव तथा नारकियोंका स्थूल शरीर, आहारक–साधुका दिव्य शरीर जो विशेष तपसे वनता है।

दश प्राणधारी मानव जन्मसे लेकर मरण तक इन पांचों प्रकारकी वर्गणाओंको हर समय ग्रहण करता रहता है। आत्मामें एक **योगशक्ति** है यही खींचनेवाली शक्ति है। इसके द्वारा अपने आपसे वर्गणाएं खिचकर आती है। लोक सब जगह इन पांचों प्रकारकी वर्गणाओंसे पूर्ण भरा है। जैसे गर्म लोहा पानीको खींच लेता है या चुम्बक पाषाण लोहेको खींच लेता है वैसे **योगशक्ति** इनको खींच लेती है।

योगशक्तिकी तीव्रता या प्रवलतासे अधिक वर्गणाएं खिचती हैं, उसकी मंदतासे या निर्वलतासे थोड़ी वर्गणाएं खिचती हैं। योगाभ्यासी तपस्वीके वहुत वर्गणाएं खिचकर आती हैं। एकेन्द्रिय स्थावरके वहुत कम आती हैं, क्योंकि उसकी योगशक्ति निर्वल है। इन पांचोंमें

सबसे सूक्ष्म व सबसे अधिक शक्तिधारी **कार्मण वर्गणाएं** हैं।

तैजस वर्गणामें जितने परमाणुओंका बंध है उससे अनंतगुणे परमाणुओंका बंध कार्मण वर्गणामें है। जैन सिद्धान्तमें संख्याका अल्प-बहुत्व मात्र बतानेके लिये **संख्यात, असंख्यात, अनंत** ऐसे तीन भेद किये हैं। मनुष्यकी बुद्धिमें आने योग्य गणना संख्यात तक है, शेष दो अधिक अधिक हैं। तैजस वर्गणाको बिजली या electric का स्कंध समझना चाहिये।

बिजलीकी शक्तिसे कैसे २ अपूर्व काम हो रहे हैं यह बात आजकलके विज्ञानने प्रत्यक्ष बता दी है। हजारों कोस दूरका शब्द सुन पड़ता है, हवाई विमान चलते हैं, बेतारकी खबरें जाती हैं, तब कार्मण वर्गणामें आश्चर्यकारी शक्ति होनी ही चाहिये तब ही पाप पुण्य कर्ममय कार्मण शरीरसे संसारी प्राणियोंकी विचित्र अवस्थाएं होती हैं।

कार्मण शरीरके बननेका उपादान या मूल कारण कार्मण वर्गणाएं हैं। निमित्त कारण आत्माकी योगशक्ति व मोह भाव या क्रोधादि कषाय भाव या राग द्वेष मोह हैं।

मन वचन या कायके हलन चलनसे आत्माके प्रदेशोंमें या आकारमें कंपनी होती है, लहरें प्रगट होती हैं, इस आत्म परिस्पंदको **द्रव्ययोग** कहते हैं। उसी काल योगशक्ति वर्गणाओंको खींचती हैं। इस शक्तिको **भावयोग** कहते हैं। ये खिचकर आए हुए कर्म पहलेसे स्थित कार्मण शरीरके साथ बंध जाते हैं। उनके बंधनेमें तीव्र, तीव्रतर, मंद, मंदतर कषाय भाव निमित्त कारण होते हैं। कषाय सहित योगसे जो कर्म आते हैं उसको **सांपरायिक आस्रव** कहते हैं, क्योंकि ये

ठहरनेके पीछे फल देकर सड़ते हैं, जब कि कषायरहित शुद्ध योगसे जो कर्म आते हैं उसको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं तब कर्म ठहरते नहीं, आते हैं व चले जाते हैं।

आस्रव तथा बंध दोनों काम एक साथ एक समयमें होते हैं, इसलिये दोनोंके निमित्त कारण एक ही हैं। योग तथा कषायसे कर्म आते हैं व योग कषायसे कर्म बंधते हैं। इनहीके चार भेद किए गए हैं—**मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, योग**। मिथ्या श्रद्धान या प्रतीतिको मिथ्यात्व कहते हैं, इस भावके साथ कषाय भाव भी मिले होते हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील व परिग्रह या मूर्छा इन पांच पापोंसे विरक्त न होना अविरत भाव है। इसमें भी कषाय भावोंका प्रभाव है। कभी ये चारों एकसाथ होते हैं, कभी मिथ्यात्व छूट जाता है तब तीन रह जाते हैं। अविरत भाव छूटनेसे दो ही रहते हैं, कषाय न रहनेसे एक योग ही कारण रह जाता है। यदि आत्माके प्रदेश सकंप न हों व क्रोध, मान, माया या लोभ कषाय न हों तो कार्मण शरीरमें नवीन कर्मोंका बंध या संचय न हो। शुद्ध आत्मामें दोनों बातें नहीं होतीं हैं इससे वहां कर्मका बंध नहीं होता है।

पूर्वमें बांधे हुए कर्मके उदयके प्रभावसे योग सकंप होता है, विकारी कषाय भाव या राग द्वेष मोह होते हैं। जैसे पुराने बीजसे वृक्ष होता है, उस वृक्षसे फिर बीज उगते हैं, उन बीजोंसे फिर वृक्ष होते हैं वैसे ही पुण्य कर्मसे योग कषाय या अशुद्ध भाव होते हैं। अशुद्ध भावोंसे नवीन कर्म बंधते हैं।

जिनके कारण संसारी प्राणियोंकी भीतरी व बाहरी अशुद्ध

३—वेदनीय, ४—मोहनीय, ५—आयु, ६—नाम, ७—गोत्र, ८—अंतराय।

इन आठों कर्मोंके बंधके निमित्त कारण संसारी प्राणीमें होनेवाले योग व कषाय हैं। विशेष जाननेके लिये हरएक कर्मके बंधके कारण नीचे लिखे भाव हैं:—

ज्ञानावरण तथा दर्शनावरणके कारण-विशेष भाव।

१—प्रदोष भाव—तत्वज्ञानकी व मोक्षमार्गकी उपकारी बातें सुनकर या जानकर भावोंमें प्रसन्न होकर द्वेषभाव या दुष्टभाव या मलीनभाव या पैशून्यभाव, ईर्षाभाव रखना।

२—निह्नव—आप जानते हुए भी कहना कि हम नहीं जानते हैं, अपने ज्ञानको छिपाना। ज्ञानके छिपानेमें दूसरा कोई उस ज्ञानका लाभ नहीं ले सकेगा, यह दोष होगा।

३—मात्सर्य—ईर्षाभावसे ज्ञानदान नहीं करना। दूसरा भी जानकर मेरे बराबर हो जायगा, मेरी प्रतिष्ठा घट जायगी या मेरा स्वार्थ साधन नहीं होगा।

४—अन्तराय—ज्ञानदर्शनके कारणोंको बिगाड़ना, ज्ञानके प्रकाशमें विघ्न करना, ज्ञानकी वृद्धि न होने देना, शास्त्रोंको न दिखाना, ज्ञान प्रचारमें तन मन धनका लगाना।

५—आसादन—दूसरा कोई ज्ञानका प्रकाश करना चाहता है उसको मना करना, न कहने देना, ज्ञानीका विनय न करना, गुण प्रकाश न होने देना।

६—उपघात—यथार्थ ज्ञानका कुयुक्तियोंसे खण्डन करना,

सत्यको असत्य ठहराना। ज्ञानदर्शनके प्रकाशमें सर्व ही दोष इन कर्मोंके बंधके कारण हैं।

दुःखफलदायक 'असातावेदनीय' कर्मके बन्धके विशेष भाव।

(१) दुःख—स्वयं दुःखी होना, दूसरोंको दुःखी करना या ऐसे काम करना व ऐसी बातें करना जिससे आप भी दुःखी हो व दूसरोंको भी दुःख हो।

(२) शोक—हितकारी वस्तुके न होनेपर व वियोग होजाने पर शोक स्वयं करना या दूसरेको शोकित करना या इस तरह वर्तना, जिससे आप व दूसरे दोनों शोकित हों।

(३) ताप—अपयश आदि बुरा फल होनेके कारण अन्तरंगमें तीव्र संताप विदित करना या दूसरेको संतापित कर देना, या ऐसा व्यवहार करना जिससे आप भी पश्चात्ताप करे व दूसरे भी पश्चात्ताप करें, यहां भावोंमें संक्लेशपन रहता है।

(४) आक्रन्दन—भीतरी कष्टको रोकर, आंसू वहाकर प्रगट करना या दूसरेको रुला देना, या ऐसा वर्तन करना जिससे आप भी विलाप करे व दूसरे भी रोवें।

(५) वध—स्वयं अपने इन्द्रियादि प्राणोंका घात करना, या दूसरोंके प्राण लेना या ऐसा वर्ताव करना जिससे आप भी मरे व दूसरे भी मारे जावें।

(६) परिदेवन—ऐसा रुदन करना या रुला देना या आप व दूसरे दोनोंको रुलाना जिससे सुननेवालोंके भावमें दया होजावे व

वे अपना भला करदें। इन सब कामोंमें क्रोधादि कषाय मूल होते हैं।

सुखकारक 'सातावेदनीय' कर्मके बंधके विशेष भाव।

(१) **भूतानुकंपा**—प्राणीमात्र पर दया भाव, दूसरोंके कष्टको अपनासा समझ कर दूर करनेकी तीव्र अभिलाषा, दूसरेको दुःखी देखकर आप कांप जावे, यथाशक्ति दूर किये विना चैन न ले।

(२) **व्रती अनुकंपा**—अणुव्रती श्रावक तथा महाव्रती साधु पर विशेष दया भाव रखना कि ये धर्मात्मा प्राणी निराकुल रहकर धर्मका साधन कर सकें, उनके आहार विहारमें व व्यवहारमें कोई कष्ट उनको न हो।

(३) **दान**—भक्तिपूर्वक पात्रोंको–साधु या धर्मात्मा गृहस्थोंको व भक्तिके योग्य श्रावकोंको तथा करुणापूर्वक प्राणीमात्रको चार प्रकारका दान देना–आहार, औषधि, अभय (भय निवारण या आश्रय दान), विद्या, इन चार तरहके दानोंमें तन मन धनको लगाकर प्रसन्न होना।

(४) **सराग संयम** - संसारका नाश व मोक्षका लाभ हो ऐसा राग रखकर साधुका चारित्र पालना, पूर्ण वीतरागी न होना।

(५) **संयमासंयम**—श्रावकोंका व्रत एकदेश पालना। पहली दर्शनप्रतिमासे लेकर ग्यारवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा तकका संयम पालना।

(६) **अकामनिर्जरा**—शांतभावसे कष्टोंको सह लेना, पापके उदयमें समभाव रखना, घबड़ाना नहीं।

(७) **वालतप**—आत्मज्ञान विना भी मंद कषायसे उपवासादि तप करना।

(८) अर्हत्पूजा—अरहंत परमात्माकी भक्ति सहित पूजा करना या देव शास्त्र गुरुकी पूजा करना।

(९) वैय्यावृत्य—बाल, वृद्ध, रोगी धर्मात्माओंकी व तपस्वियोंकी सेवा टहल करना।

(१०) योग—समाधि या ध्यानके समय शांत भाव रखना।

(११) क्षान्ति—क्रोधको जीतकर क्षमा भाव रखना।

(१२) शौच—लोभको जीतकर पवित्रता व सन्तोष रखना।

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पांच पापोंके पूर्ण त्यागीको महाव्रती साधु व एकदेश त्यागीको अणुव्रती श्रावक कहते हैं।

सम्यक्तगुणबाधक 'दर्शन मोहनीय' कर्मके बंधके विशेषभाव:—

(१) सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी केवली अरहन्त परमात्माका अवर्णवाद या उनमें मिथ्या दोषारोपण करना, उनकी निन्दा करना।

(२) अरहन्त उपदेशित स्याद्वाद गर्भित जिनवाणी या सत्य तत्वोपदेशका अवर्णवाद या उसमें दोषारोपण करना।

(३) सत्य मोक्षमार्गपर आरूढ़ श्रमणोंका या साधुओंका अवर्णवाद या उनमें मिथ्या दोष लगाकर निन्दा करनी।

(४) जिनवाणीमें कथित अहिंसा लक्षण धर्मका अवर्णवाद या सत्य धर्ममें मिथ्या दोष लगाना।

(५) देवगतिधारी भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा स्वर्गवासी देवोंका अवर्णवाद या उनमें मिथ्या दोष लगाना जैसे—ये देव मांस मदिरा सेवते हैं, इसी तरह मोक्षमार्गमें विरोधी मिथ्यात्व भाव पोषक-

व्यवहार करना, तथा संसारको बढ़ानेका श्रद्धान रखना, नास्तिक भाव रखना ।

चारित्रगुणघातक 'चारित्रमोहनीय' कर्मबन्धके विशेषभाव ।

(१) क्रोध, मान, माया, लोभकी तीव्रता रखनी ।

(२) अपने व दूसरोंमें तीव्र कषाय भाव पैदा कर देना ।

(३) तपसी साधुओंके व्रतोंमें दूषण लगाना ।

(४) संक्लेश भावसे तप या व्रत करना ।

(५) सत्यधर्म आदिका हास्य करना, बहुत हंसी व बकवाद करना ।

(६) धर्मसे अरुचि रखकर खेल कूदमें मगन रहना ।

(७) दूसरोंमें पापमें रति व धर्मसे अरति उत्पन्न कर देना ।

(८) अपने व दूसरोंमें शोक भाव पैदा कर देना ।

(९) स्वयं भयभीत रहकर दूसरोंमें भय पैदा कर देना ।

(१०) शुभ कार्मोंसे ग्लानि करना ।

(११) कामविकारकी तीव्रता रखनी ।

नरकगतिमें रोक रखनेवाले 'नर्कआयुके' बंधके भाव ।

(१) प्राणीपीड़ाकारी अन्यायपूर्वक बहुत व्यापार व आरम्भ करना ।

(२) धर्मसे विमुख होकर संसारमें बहुत ममता व मूर्छा रखनी ।

(३) हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री रमण व विषयभोगके प्रति गृद्धभाव रखना ।

(४) दुष्ट रौद्र हिंसाकारी ध्यान रखना ।

तिर्यंचगतिमें रोकरखनेवाले 'तिर्यंच आयु'कर्मके बंधके विशेपभाव ।

(१) मायाचार करना, कुटिल परिणाम रखना, परको ठगना ।

(२) मिथ्यादर्शनका उपदेश करना, कुधर्मका प्रचार करना।

(३) इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, पीड़ा व विषयोंकी चाहरूप निदान, इन चार हेतुओंसे आर्तध्यान करना।

'मनुष्यायु'के बंधके विशेष भाव।

(१) संतोषपूर्वक व न्यायपूर्वक आरम्भ व व्यापार करना।

(२) संतोषपूर्वक व न्यायपूर्वक परिग्रहका संचय करना व मूर्च्छा अल्प रखना।

(३) स्वभावसे ही कोमल व विनयवान होना, भद्र परिणामी होना।

(४) कषाय भाव मंद रखना, विचारशील होना।

देवगतिमें रखनेवाले 'देवायु' कर्मके बंधके विशेष भाव।

(१) राग सहित साधुके महाव्रत पालना।

(२) श्रावकके बारह व्रत पालना।

(३) अकाम निर्जरा अर्थात् समभावसे भूख, प्यास, वध, बंधन कष्ट सहना।

(४) आत्मानुभव रहित मंद कषायसे उपवासादि तप करना।

(५) सम्यग्दर्शन सहित धर्मका विश्वास रखना, मोक्षकी रुचि होना।

दुर्गति बनानेवाले 'अशुभ नामकर्म' के बंधके विशेष भाव।

(१) मन वचन कायका कुटिल वर्ताव, सरलता न होना।

(२) दूसरोंसे झगड़ा, लड़ाई, तकरार करना।

(३) मिथ्या श्रद्धान रखना व मिथ्या चारित्र पालना।

(४) परको ठगना, कमती तोलकर देना, झूठा कागज लिखना।

(५) परकी निन्दा व अपनी प्रशंसा करना।

सुगति बनानेवाले 'शुभ नामकर्म' के बंधके विशेष भाव ।

(१) मन वचन कायका सरल वर्ताव—कपट न करना।

(२) दूसरोंसे झगड़ा तकरार लड़ाई न करके प्रेम रखना।

(३) सत्य धर्मका श्रद्धान रखना, संसार भ्रमणसे उदास रहना।

(४) उत्तम कार्योंमें प्रमाद आलस्य न करना।

(५) निरन्तर सत्य ज्ञानकी चर्चा करना।

(६) सत्य देव शास्त्र गुरुकी भक्ति करना, सेवा करना।

निन्द्य कुलमें रखनेवाले 'नीच गोत्रकर्म' के बंधके विशेष भाव।

(१) परकी निन्दा, अपनी प्रशंसा करना।

(२) दूसरोंके होते हुए गुणोंका ढकना, अपनेमें न होते हुए गुण प्रगट करना।

प्रशंसनीय कुलमें रखनेवाले उच्च 'गोत्रकर्म'के बंधके विशेष भाव।

(१) अपनी निन्दा, परकी प्रशंसा।

(२) परके गुण प्रगट करना, अपने गुण ढकना।

(३) गुणवानोंकी विनय करना।

(४) ज्ञानादिमें महान होनेपर भी अहंकार न करना-नम्र रहना।

विघ्नकारक 'अन्तराय कर्म' के बंधके विशेष भाव।

(१) उचित दान दिये जानेपर भी रोकना, मना करना।

(२) किसीको कोई लाभ होरहा हो उसमें विघ्न डाल देना।

(३) भोजनपान माला गंधादि भोगोंको भोगनेमें विघ्न कर देना।

नीचे गोत्र, असाता वेदनीय कर्मका बंध होगा। जब शुभ भाव होगा तब शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र व सातावेदनीय कर्मका बन्ध होगा किंतु चार घातीय कर्मका बंध हरएक शुभ या अशुभ भाव आत्माके स्वाभाविक शुद्ध भावका घातक है। इसतरह हरएक प्राणी हरएक दशामें कभी सात प्रकार कभी आठ प्रकार कर्मोंका बंध किया करता है। अपने ही अशुद्ध भावोंसे दैवका स्वयं संचय होजाया करता है।

लेश्या। इन ही अशुभ व शुभ भावोंको बतानेके लिये जैन सिद्धांतमें लेश्या शब्द काममें लाया गया है जिसका अर्थ है "कर्मस्कन्धैः आत्मानं लिम्पति इति लेश्या", अथवा "लिप्यते प्राणी कर्मणा यया सा लेश्या" जिनके द्वारा आत्मा कर्मोंसे लिपे या बंधे या संसर्ग पाये वह लेश्या है। मन, वचन, या कायकी प्रवृत्तिको जो कषायसे रंगी हो या न रंगी हो लेश्या कहते हैं। कषायके उदयके छः भेद हैं—तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मंदतम। इसलिये लेश्याके भी छः भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। काला, नीला, भूरा (कापोत), ये तीन रंग अशुभ भावोंके दृष्टांत हैं। अशुभतम कृष्ण, अशुभतर नील व अशुभ कापोत लेश्या है। पीत, पद्म (लाल), शुक्ल ये तीन शुभ भावोंके दृष्टांत हैं। मन्दकषायरूप शुभ भाव पीत है। मंदतर कषाय शुभ भाव पद्म है, मन्दतम कषायभाव या कषाय रहित योग शुक्ल लेश्या है। इन लेश्याओंके भावोंको समझनेके लिये एक दृष्टांत प्रसिद्ध है। छः लेश्याके भावोंको रखनेवाले छः आदमी एक वनमें आमके वृक्षको देखते हैं तब कृष्ण लेश्यावाला जडमूलसे वृक्षको काट-

कर आम लेना चाहता है। नील लेश्यावाला जड़ छोड़कर धड़से काटकर आम लेना चाहता है। कापोत लेश्यावाला बड़ी २ शाखायें तोड़कर आम लेना चाहता है। पीत लेश्यावाला आमके गुच्छे तोड़ना चाहता है। पद्म लेश्यावाला पक्क आम ही तोड़ना चाहता है। शुक्ल लेश्यावाला नीचे गिरे हुए आमोंको ही खाना चाहता है।

आठ कर्मोंके उत्तर भेद।

हरएक बुद्धिमान प्राणी अपने भीतरके भावोंसे अपनी लेश्याका या अशुभ तथा शुभ भावोंका पता लगा सक्ता है। भावोंके होनेमें बाहरी निमित्त प्रबल कारण पड़ते हैं, इसलिये उत्तम संगतिका विचार सदा करते रहना चाहिये। आठ कर्मोंके उत्तर भेद १४८ हैं। उनका जानना भी जरूरी है। ज्ञानावरण कर्मके ५, दर्शनावरण कर्मके ९, वेदनीयके २, मोहनीयके २८, आयु कर्मके ४, नाम कर्मके ९३, गोत्र कर्मके २, अंतरायके ५ कुल १४८ हैं।

५–ज्ञानावरणकी उत्तरप्रकृति।

(१) मतिज्ञानावरण—जिसके उदयसे मतिज्ञान (पांच इंद्रिय तथा मनसे होनेवाला सीधा ज्ञान) न होसके।

(२) श्रुतज्ञानावरण—जिसके उदयसे श्रुतज्ञान (मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थसे अन्य पदार्थका ज्ञान) न होसके।

(३) अवधिज्ञानावरण—जिसके उदयसे अवधिज्ञान (एक दिव्यज्ञान) न होसके।

(४) मनःपर्यय ज्ञानावरण—जिसके उदयसे मनःपर्यय ज्ञान (एक दिव्यज्ञान) न होसके।

(५) केवलज्ञानावरण—जिसके उदयसे सर्वज्ञपना प्रगट न होसके।

९-दर्शनावरणकी उत्तर प्रकृति।

(१) चक्षु दर्शनावरण—जिसके उदयसे चक्षु द्वारा सामान्य अवलोकन न होसके।

(२) अचक्षु दर्शनावरण—जिसके उदयसे चक्षु सिवाय अन्य चार इन्द्रिय व मन द्वारा सामान्य अवलोकन न होसके।

(३) अवधि दर्शनावरण—जिसके उदयसे अवधि दर्शन (दिव्य दर्शन) न होसके।

(४) केवलदर्शनावरण—जिसके उदयसे सर्वदर्शीपना न होसके।

५-निद्रा दर्शनावरण—जिसके उदयसे साधारण नींद आवे।

६-निद्रा निद्रा दर्शनावरण—जिसके उदयसे गाढ़ नींद आवे।

७-प्रचला दर्शनावरण—जिसके उदयसे ऊंघे, कुछ जागे, कुछ सोवे।

८-प्रचला प्रचला दर्शनावरण—जिसके उदयसे वारवार ऊंघे, राल वहे।

९-स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण—जिसके उदयसे सोते हुए स्वप्नमें ही वीर्य प्रगट कर बहुत काम करे।

२-वेदनीय कर्मकी उत्तरप्रकृति—

१-सातावेदनीय—जिसके उदयसे शारीरिक व मानसिक सुख प्राप्त हो अथवा जो सुखका साधन मिलावे।

२–असातावेदनीय—जिसके उदयसे अनेक प्रकार दुःख हो या जो दुःखके साधन मिलावे।

२८–मोहनीय कर्मकी उतरप्रकृति—

३–दर्शनमोहनीय—

१–मिथ्यात्व—जिसके उदयसे सम्यक्त गुण प्रगट न हो।

२–सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र—जिसके उदयसे सम्यक्त मिथ्यात्व दोनोंका मिला हुआ कलुष श्रद्धान हो।

३–सम्यक्त प्रकृति—जिसके उदयसे सम्यक्तमें दोष लगे।

२५–चारित्र मोहनीय—

१६–कषाय—

४ अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ व अनन्त अर्थात् मिथ्यात्वको मदद देनेवाली व सम्यक्त तथा स्वरूपाचरण चारित्रको रोकनेवाली कषाय। इसका वासनाकाल छः माससे अधिक दीर्घकाल है।

४ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान माया, लोभ व कुछ त्याग जो गृहस्थ श्रावकका चारित्र उसके रोकनेवाली कषाय। इसका वासना-काल छः मास है।

४ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ–पूर्ण त्याग जो साधुका चारित्र उसको रोकनेवाली कषाय। इसका वासनाकाल १५ दिन है।

४ संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ–संयमके साथ २ जलने-वाली व यथाख्यात चारित्रको रोकनेवाली कषाय। इसका वासनाकाल अंतर्मुहूर्त है।

९ नोकषाय—कुछ कषाय जो कषायके उदयके साथ काम करे।

१—हास्य—जिसके उदयसे हास्य प्रगट हो ।

२—रति—जिसके उदयसे इन्द्रियोंके विषयोंमें राग हो ।

३—अरति—जिसके उदयसे विषयोंमें अरुचि हो—द्वेष हो ।

४—शोक—जिसके उदयसे शोकभाव हो ।

५—भय—जिसके उदयसे उद्वेग या भय हो ।

६—जुगुप्सा—जिसके उदयसे दूसरेसे ग्लानि या घृणा हो ।

७—स्त्रीवेद—जिसके उदयसे स्त्री संबन्धी कामभाव हो ।

८—पुंवेद—जिसके उदयसे पुरुष सम्बन्धी कामभाव हो ।

९—नपुंसकवेद—जिसके उदयसे स्त्री पुरुषके मिश्र कामभाव हो ।

४—आयु कर्म—नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव इन चार गतियोंमें रोकनेवाले चार आयुकर्म हैं। एकेंद्रियसे पंचेंद्रिय पशु तक तिर्यंच गतिमें हैं ।

९३—नामकर्म—

४—गति—जिसके उदयसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देवगतिमें जावे व वहांकी अवस्था प्राप्त करे ।

५—जाति—जिसके उदयसे एकसमान दशा हो । वे पांच हैं—एकेंद्रिय, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, पंचेंद्रिय ।

५—शरीर—जिसके उदयसे शरीरकी रचना हो । पांच शरीरोंके योग्य वर्गणा ग्रहण हो । औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण । मनुष्य, तिर्यंचोंका स्थूल शरीर औदारिक होता है । देव-नारकियोंका स्थूल शरीर वैक्रियिक होता है । आहारक दिव्य शरीर

योगियोंके बनता है। तैजस कार्मण दो सूक्ष्म शरीर सब संसारी प्राणियोंके होते हैं।

३—अङ्गोपांग—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीरोंमें जिसके उदयसे अङ्ग व उपाङ्ग बनें।

१—निर्माण—जिसके उदयसे अङ्ग उपाङ्गोंके स्थान व प्रमाण बने।

५—बंधन—जिसके उदयसे पांचों शरीरोंके पुद्गल परस्पर बंधे।

५—संघात—जिसके उदयसे पांचों शरीरोंके पुद्गल छिद्ररहित मिल जावें।

६—संस्थान—जिसके उदयसे शरीरोंका आकार बने। वे आकार छः प्रकार हैं—

समचतुरस्र संस्थान—शरीर सुडौल सांचेमें ढला जैसा हो।

न्यग्रोधपरिमंडल सं०—शरीर वटवृक्षके समान ऊपर बड़ा नीचे छोटा हो।

स्वाति सं०—शरीर सर्पके बिलके समान ऊपर छोटा नीचे बड़ा हो।

कुब्जक सं०—शरीर कुबड़ा हो, पीठ उठी हो।

वामन सं०—शरीर बौना व छोटा हो।

हुंडक सं०—शरीर बेडौल व खराब हो।

६—संहनन—जिनके उदयसे द्वेन्द्रियादि त्रस तिर्यंच व मानवोंके शरीरके भीतर हड्डीकी विशेषता हो। वे छ प्रकार हैं—

वज्रवृषभनाराच संहनन—वज्र (हीरोंके समान न भिदनेवाले नशोंके जाल कीलें व हाड़ हों।

१—आदेय—जिसके उदयसे प्रभावान शरीर हो।

१—अनादेय—जिसके उदयसे प्रभारहित शरीर हो।

१ यशस्कीर्ति—जिसके उदयसे उत्तम गुणोंका यश फैले।

१—अयशस्कीर्ति—जिसके उदयसे सुयश न हो।

२—तीर्थंकर – जिसके उदयसे तीर्थंकर केवली हो।

जोड़ ९३—प्रकृति।

२—गोत्रकर्म।

१ उच्च गोत्र—जिसके उदयसे लोकपूजित कुलमें जन्म हो।

१ नीच गोत्र—जिसके उदयसे लोकनिन्द्य कुलमें जन्म हो।

५—अंतराय कर्म।

१ दानांतराय—जिसके उदयसे दान देना चाहे परन्तु दे न सकें।

१ लाभांतराय—जिसके उदयसे लाभ होना चाहे परन्तु लाभ न कर सके।

१—भोगांतराय—जिसके उदयसे भोगना चाहे परन्तु भोग न कर सके।

१—उपभोगांतराय—जिसके उदयसे उपभोग करना चाहे परन्तु कर न सके।

१ वीर्यांतराय—जिसके उदयसे उत्साह करना चाहे परन्तु उत्साह न कर सके।

सर्व १४८ उत्तर प्रकृतियां हैं।

इनमेंसे ६८ पुण्य व १०० पाप प्रकृतियां हैं। वर्णादि २०को पुण्य व पाप दोनोंमें गिनते हैं।

पुण्य पाप प्रकृति।

ही होता है । सम्यक्त होनेपर मिथ्यात्वके तीन विभाग होते हैं । तब ८४—२=८२ पाप प्रकृति रह जायगी ।

चार प्रकारका बंध—

मूल बन्धके निमित्त कारण अशुद्ध आत्माके योग व कषायभाव हैं । इनहीसे चार प्रकारका बंध होता है—**प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग** ।

इन चारोंका बन्ध एक साथ होता है । कर्मवर्गणाएं कर्मबंधकी उपादान कारण हैं, उनमें ज्ञानावरणादि स्वभाव पड़ना प्रकृतिबन्ध है, हरएक प्रकृतिकी कितनी वर्गणाएं बन्धी संख्या पड़ना प्रदेशबन्ध है । वे बन्धे कर्म कबतक आत्माको विलकुल न छोड़ेंगे उनकी मर्यादा पड़ना स्थितिबन्ध है । उनका फल तीव्र या मंद पड़ना अनुभागबन्ध है । जब काय, या वचन या मन तीनोंमेंसे कोई वर्तन करता है तब आत्माके प्रदेश सकंप होते हैं । इस सकम्पको **द्रव्ययोग** कहते हैं तब ही आत्माके भीतर आकर्षण शक्ति कर्म व नोकर्मवर्गणाओंको खींच लेती है, यह शक्ति **भावयोग** है ।

योगशक्ति प्रवल होनेसे बहुत अधिक कर्म व नोकर्मवर्गणाएं खिचेंगी । योगशक्ति निर्बल होनेसे थोड़ी नोकर्मवर्गणाएं खिचेंगी । सैनी पञ्चेन्द्रिय जैसे मानव आहारक, तैजस, कार्मण, भाषा, मन पांच प्रकार वर्गणाओंको हर समय ग्रहण करता है । कार्मणवर्गणाको कर्म शेष चारको नोकर्म कहते हैं, योगोंकी विशेषतासे ही प्रकृति व प्रदेश-बन्ध होते हैं । कषायोंकी विशेषतासे स्थिति, अनुभागबन्ध होते हैं ।

स्थितिबन्धका नियम—तिर्यंच, मनुष्य, देव आयु इन तीन

कर्मोंको छोड़कर शेष सब बन्ध होनेवाली प्रकृतियोंमें मंद कषाय होनेसे स्थिति कम व तीव्र कषाय होनेसे स्थिति अधिक पड़ेगी। तिर्यंचादि तीन आयुमें मंद कषाय होनेसे स्थिति अधिक व तीव्र कषाय होनेसे स्थिति कम पड़ेगी।

आठ मूल कर्मोंकी उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति नीचेके कोष्टकमें दी जाती है। मध्यम स्थितिके अनेक भेद समझने चाहिये। तीव्रतम कषाय भावोंसे उत्कृष्ट स्थिति व मंदतम भावसे जघन्य स्थिति पड़ती है। तीव्रतर तीव्र मंद मंदतर भावोंसे अनेक भेदरूप मध्यम स्थिति पड़ती है। स्थितिका अधिक पड़ना अधिक काल तक बन्धनमें रहना है।

कर्म प्रकृति	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
ज्ञानावरण	३० कोड़ाकोड़ी सागर	अन्तर्मुहूर्त
दर्शनावरण	” ” ”	”
वेदनीय	” ” ”	१२ बारह मुहूर्त
मोहनीय	७० ” ”	अन्तर्मुहूर्त
अन्तराय	३० ” ”	”
नाम	२० ” ”	८ आठ मुहूर्त
गोत्र	२० ” ”	८ आठ मुहूर्त
नारक आयु	३३ तेतीस सागर	१० हजार वर्ष
देव आयु	३३ ” ”	१० हजार वर्ष
मनुष्य आयु	३ पल्य	अन्तर्मुहूर्त
तिर्यंच आयु	३ पल्य	”

पल्य असंख्यात वर्षोंका होता है उससे बहुत अधिक सागरके वर्ष हैं। ४८ मिनिटसे एक समय कम उत्कृष्ट व १ आवली, १ समयका जघन्य अन्तर्मुहूर्त होता है। आंख पलक लगनेके समयसे कम समयको आवली कहते हैं। सैनी पंचेंद्रिय बलवान जीव तीव्रतम कषायसे आयु सिवाय सात कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बांधता है, जबकि वही जीव अति मन्दतम कषायसे उनकी जघन्य स्थिति बांधता है।

एकेंद्रियादि जीवोंकी अपेक्षा स्थिति बन्धका नियम यह है कि जब सैनी पंचेंद्रिय जीव ७० कोड़ाकोड़ी स्थिति बांधेगा तब उसी दर्शन मोहनीय कर्मकी असैनी पंचेंद्रिय १००० सागर, चौन्द्रिय जीव १०० सागर, तेन्द्रिय जीव ५० सागर, द्वेन्द्रिय जीव २५ सागर, एकेंद्रिय जीव—१ एक सागर स्थिति बांधेगा, इसी तरह सर्व कर्मोंकी स्थितिका नियम है। जैसे ज्ञानावरण कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सैनी जीव ३० कोड़ाकोड़ी सागर बांधेगा। तब असैनी पंचेंद्रिय ३०००/७ सागर, चौन्द्रिय जीव ३००/७ सागर, तेंद्रिय १५०/७ सागर, द्वेन्द्रिय ७५/७ सागर, एकेंद्रिय ३/७ सागर बांधेगा।

जिस कर्मकी जितनी स्थिति पड़ती है उस स्थितिके समयोंमें कर्मवर्गणाएं आबाधा काल (प्राचीनकाल) पीछे शेष समयोंमें हीन क्रमसे बंट जाती हैं वे यदि कुछ परिवर्तन हो तो उसी बटवारेके अनुसार समय समय गिरती जाती हैं। यदि बाहरी निमित्त अनुकूल होता हो तो फल प्रगट कर झड़ती हैं। अनुकूल निमित्त नहीं होता है तो विना फल प्रगट किये ही झड़ जाती हैं।

जैसे किसी कर्मका बंध होते हुए ६३०० वर्गणाएं बंध व

स्थिति ४९ समयोंकी पड़ी, १ समय आबाधा कालमें गये, तब शेष ४८ समयोंमें ६३०० हीन क्रमसे बंट जायगी व उसी तरह गिरती जायगी। पहले समयमें ५१२ दूसरेमें ४८० उसी तरह घटते २ अंतिम ४८ वें समयमें ९ शेष रही झड़ जायगी। इससे यह भी मतलब समझना चाहिये कि ४९ समयोंकी स्थिति केवल ९ की हुई शेषकी कम कम स्थिति हुई। क्रोध, मान, माया, लोभ चारों कषायोंकी वर्गणाओंका बंध एक साधारण मानव एकसाथ करता है, परन्तु फल एकसाथ चारोंका नहीं होता है। एक समय एक ही कषायका फल प्रगट होता है। यद्यपि आबाधा काल वीतने पर चारों कषायोंकी वर्गणाएं गिर रही हैं। जिस कषायका बाहरी निमित्त होता है उसका फल प्रगट होता है। शेष विना फल प्रगट किये हुए गिरती हैं। जैसे कोई धर्मप्रेमसे देव भक्ति कर रहा है, ५ मिनट तक उसी धर्म प्रेममें लगा है तब लोभ कषायके कर्म तो फल देकर वे तीन कषायोंके कर्म विना फल दिये हुए गिर रहे हैं, इस तरह पुराने कर्मके पुद्गल गिरते रहते हैं।

आबाधा कालका नियम—एक कोड़ाकोड़ी सागरोंकी स्थिति होगी तो १०० वर्षका आवाधा काल होगा। ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिमें ७००० वर्षका आबाधाकाल होगा। एक सागरकी स्थितिमें बहुत कम एक श्वाससे भी कम आयगा। स्वस्थ मानवकी नाड़ी फड़कनेके समयको एक उच्छ्वास कहते हैं, ४८ मिनटमें ३७७३ उच्छ्वास होते हैं। किसी भी कर्मकी आबाधा एक आवलीसे कम नहीं होती है, इसको अचलावली कहते हैं।

पुण्य कर्मोंमें शुभ अनुभाग पड़ेगा। उसके दृष्टान्त गुड़, खांड़, सक्कर, व अमृत हैं। गुड़की मिठाईके समान मन्दतर मिष्ट, खांड़के समान मंद मिष्ट, शक्कर (मिश्री) के समान तीव्र मिष्ट, अमृतके समान तीव्रतर मिष्ट।

असातावेदनीय आदि पांच कर्मोंमें कटुक अनुभाग पड़ेगा। उसके दृष्टान्त—नीम्ब, कांजी, विष, हालाहल हैं। नीम्बके समान मंदतर, कटुक; कांजीके समान मंद कटुक, विषके समान तीव्र कटुक, हालाहलके समान तीव्रतर कटुक। कर्मोंमें जैसा अनुभाग होगा, फल देते समय वैसा दुःख या सुख वेदन होगा।

इस तरह चार प्रकार बंध योग और कषायसे होता है। योग-शक्तिसे नानाप्रकार प्रकृतियोंके योग्य कर्मवर्गणाएं खिचकर आती हैं, प्रकृति व प्रदेश बन्ध होते हैं। कषायसे स्थिति व अनुभाग बंध होते हैं। असलमें कषायभाव ही कर्मोंके ठहरानेमें व फल देनेमें कारण है। जैसे हम स्वयं हवा पानी, भोजन लेते हैं, वे भीतर ठहरते हैं, अनेक प्रकार रस देते हैं. उनहींसे रुधिर, मांसादि धातु उपधातु बनती हैं, वीर्य तैयार होता है। वीर्यके प्रभावसे या फलसे शरीरके अंग उपंग काम करते हैं।

स्वास्थ्यमय भोजनसे अच्छा फल होना है। रोगकारक व प्रति-कूल भोजनका पूरा फल होता है। कोई औषधि शीघ्र, कोई देरमें फल देती है। हम स्वयं स्थूल शरीरमें अन्नादि ग्रहण कर स्वयं ही उन खाए हुए पदार्थोंके स्वभावसे उनका फल भोग लेते हैं। वैसे ही हम योग व कषायसे चार प्रकारका बंध स्वयं करके देवको तैयार या

जाता है। साधुका आहार विहार, उपदेशादि क्रियाएं इस श्रेणीमें होती हैं। इसीसे प्रमाद सहित संयम होता है, इसके आगेके सब ही गुणस्थान ध्यानमई हैं। थिरताकारी व निराकुल हैं, प्रमाद रहित हैं। प्रमादभाव पहलेसे छठे गुणस्थान तक हैं।

(७) **अप्रमत्तविरत**—यहां १३ कषायोंका मंद उदय रहता है। धर्मध्यानकी पूर्णता यहां होती है। धर्मध्यानका प्रारम्भ चौथेसे होता है।

(८) **अपूर्वकरण**—यहां १३ कषायोंका और भी उदय मंद होजाता है। यहां शुद्ध भाव ऐसे उन्नतिरूप होते हैं कि एक-साथ उक्त गुणस्थानमें रहनेवाले साधुओंके भाव समान या असमान हों, परन्तु भिन्न समयवालेके बराबर कभी नहीं, अपूर्व भाव हों।

(९) **अनिवृत्तिकरण**—यहां हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छः नोकषायोंका उदय नहीं रहता है, केवल चार संज्व-लनका व तीन वेदका उदय रहता है। यहां भाव बहुत ऊँचे होते हैं, एकसाथके साधुओंके सबके भाव बराबर रहते हैं। कषायका उदय घटता जाता है, अन्तमें लोभका उदय रह जाता है।

(१०) **सूक्ष्मसांपराय**—यहां केवल सूक्ष्म लोभका मंद उदय रह जाता है।

(११) **उपशांतमोह**—यहां लोभ भी शांत हो जाता है। मोहनीय कर्म दबा रहता है, थोड़ी देर तक वीतराग भाव ही रहता है।

(१२) **क्षीणमोह**—यहां मोहनीय कर्म विलकुल क्षय हो गया है। शुक्लध्यानका प्रारम्भ सातवेंसे होता है। यहांतक पहला

हिसाबमें १२० को गिनते हैं। मिश्र व सम्यक्त मोहनीयका तो बंध नहीं होता है ५ शरीरमें ५ बंधन, ५ संघात गर्भित हैं, २० वर्णादिके स्थानमें मूल ४ लेते हैं। इस तरह २ + १० + १६=२८ प्रकृतियां बढ़ जाती हैं। जैसे जैसे गुणस्थान बढ़ता जाता है कर्म प्रकृतियां बन्धमेंसे कम होती जाती है। जिन कर्मोंका बंध आगेके गुणस्थानोंमें नहीं होता है उन कर्मोंकी बंध व्युच्छित्ति होजाती है। जैसे मिथ्यात्व गुणस्थानमें १६ की बन्धव्युच्छित्ति है जिसका मतलब है कि १६ प्रकृत्तिएँ मिथ्यात्वमें तो बंधती हैं, आगे नहीं बंधती हैं।

गुणस्थानोंमें व्युच्छित्ति होनेवाली प्रकृत्तियोंके नाम—

(१) **मिथ्यात्वमें १६**—मिथ्यात्व, हुंडकसंस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, एकेंद्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चौन्द्रिय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकआयु।

नोट—इससे सिद्ध है कि मिथ्यात्व गुणस्थान वाला ही एकेन्द्रियसे चौन्द्रिय व नरकमें नारकी होसकेगा। ऐसा बंध आगेवाला नहीं करेगा।

(२) **सासादनमें २५**—४ अनंतानुबंधी कषाय, ३ दर्शनावरणकी, स्त्यान गृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, १ दुर्भग, १ दुःस्वर, १ अनादेय, ४ संस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्ज, वामन, ४ संहनन, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलित, १ अप्रशस्त विहायोगति, १ स्त्रीवेद, १ नीच गोत्र, १ तिर्यंचगति, १ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, १ उद्योत, १ तिर्यंचआयु=२५।

इन गुणस्थानोंमें १२० मेंसे कितनी नहीं बंधती है अर्थात् **अबंध** रहती हैं, कितनी **बंधती** हैं व कितनीकी **बंध व्युच्छित्ति** होती है, जो आगेको गुणस्थानोंमें नहीं बंधती है, इसका दर्शक नकशा नीचे है।

गुणस्थानोंमें अबंध, बंध व बंधव्युच्छित्ति।

गुणस्थान	अबन्ध संख्या	बन्ध संख्या	बंधव्युच्छित्ति संख्या	विशेष
(१)	३	११७	१६	३–में तीर्थंकर चौथेमें व आहारक द्वि० सातवेंसे बंधना प्रारम्भ होती है
(२)	१९	१०३	२५	४६=४४+मनुष्य व देवायु
(३)	४६	७४	०	तीसरेमें आयु बन्ध नहीं होता है
(४)	४	७७	१०	४३=(४६–तीर्थंकर, मनुष्य व देवायु) यहां तीनों बँधती हैं
(५)	५३	६७	४	
(६)	५७	६३	६	
(७)	६१	५९	१	६१=(६३–आहारक शरीर व अंगोपांग)
(८)	६२	५८	३६	
(९)	९८	२२	५	
(१०)	१०३	१७	१६	
(११)	११९	१	०	
(१२)	११९	१	०	
(१३)	११९	१	१	
(१४)	१२०	०	०	
			१२०	

इसतरह हरएक गुणस्थानमें कर्मप्रकृतियोंका बंध होता है, वह

१९ + हास्यरति + पुंवेद = २२ (२) १९ + शोक अरति + पुंवेद= २२ (३) १९ + हास्यरति + स्त्री वेद = २२ (४) १९ + शोक अरति + स्त्री वेद =२२ (५) १९ + हास्यरति + नपुं० वेद = २२ (६) शोकअरति + नपुं० वेद=२२ जैसे पात्र होंगे उस प्रकार कभी किसीका कभी किसीका बंध होगा।

(२) सासादन—में मिथ्यात्व विना २१ का स्थान है। प्रकार हास्यरति या शोक अरति तथा पुंवेद स्त्रीवेदकी अपेक्षा चार होंगे। २ × २=४ यहां नपुंसक वेदकी व्युच्छित्ति है।

(३) मिश्र—में २१ के ४ अनंतानुबंधी कषाय कम होंगे। १७ का स्थान है। यहां स्त्रीवेदका बंध नहीं होता है प्रकारसे ही होंगे।

(४) अविरत—में १७ का स्थान प्रकार दो होंगे।

(५) देशविरत—में १७ मेंसे ४ अप्रत्याख्यान कषाय कम होंगे १३ का स्थान है, दो प्रकार होते हैं।

(६) प्रमत्त—में १३ में से ४ प्रत्याख्यान कषाय कम होंगे ९ का स्थान है, प्रकार दो हैं।

(७) अप्रमत्त—में ९ का ही स्थान है, परन्तु शोक अरतिका बंध न होगा, एक ही प्रकार है।

(८) अपूर्वकरण—में ९ का स्थान १ प्रकार है।

(९) अनिर्वृत्तिकरण—में ५ का स्थान ९ में से ४ हास्य रति व स्त्री व नपुं० वेदका बंध नहीं होगा, ४ संज्वलन कषायका पुंवेदका बंध होगा, स्थान उदय भागमें होगा।

वह एकेंद्रिय अपर्याप्तिमें जन्म सकता है। तैजस शरीर, कार्माण शरीर, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वर्णादि ४, स्थावर, अपर्याप्त, तिर्यंचगति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी, एकेंद्रिय जाति, औदारिक शरीर, ६ मेंसे एक कोई संस्थान, बादर सूक्ष्ममेंसे एक, प्रत्येक साधारणमेंसे एक, स्थिर अस्थिरमेंसे एक, शुभ अशुभमेंसे एक, सुभग दुर्भगमेंसे एक, आदेय अनादेयमेंसे एक, यश अयशमेंसे एक।

(२) २५ का बंधस्थान। इसके ६ प्रकार हैं—

(१) ऊपरकी तेईस प्रकृतियोंमेंसे अपर्याप्त घटाकर पर्याप्त उच्छ्वास परघात मिलानेसे २५ प्रकृतिका स्थान एकेंद्रिय पर्याप्त सहित ही बनता है।

(२) ऊपर २५मेंसे स्थावर पर्याप्त एकेन्द्रिय उच्छ्वास परघात इन पांचको निकालकर त्रस अपर्याप्त २ इन्द्रिय १ संहनन औदारिक अंगोपांग इन पांचको मिलानेसे २५ का बंध दो इन्द्रिय अपर्याप्त सहित होगा।

(३) ऊपर २५ मेंसे २ इन्द्रिय निकालकर तीन इन्द्रिय जाति मिलानेसे २५ का बंध तीन इन्द्रिय अपर्याप्त सहित होगा।

(४) ऊपर २५ मेंसे तीन इन्द्रिय निकाल कर चौइन्द्रिय जाति मिलनेसे २५ का बंध होगा। चौइन्द्रिय अपर्याप्त सहित होगा।

(५) ऊपर २५ मेंसे चौइन्द्रिय निकाल कर पंचेंद्रिय जाति मिलानेसे २५ का बंध पंचेंद्रिय तिर्यंच अपर्याप्त सहित होगा।

(६) ऊपर २५ मेंसे तिर्यंचगति तिर्यंचगत्यानुपूर्वी निकालकर व मनुष्य गति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी मिलानेसे २५ का बन्ध अपर्याप्त

आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग मिलनेसे ३० का बन्धस्थान देव आहारक युत अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती बांधेगा।

नं० ७–३१ का बंधस्थान—२९ के छठे प्रकारमें आहारक और आहारक अंगोपांग मिलानेसे ३१ का बन्धस्थान देव तीर्थ आहारक युत अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती बांध सकेगा।

नं० ८–१ का बंधस्थान—यश प्रकृतिको अपूर्वकरणके ७ वें भागसे लेकर सूक्ष्मसांपराय तक बांधेगा। इस तरह नामकर्मके ८ बन्धस्थान होते हैं। नामकर्मका बन्ध दशमें गुणस्थान तक होता है, इसलिये गुणस्थान अपेक्षा किस गुणस्थानमें कितने बंधस्थान होंगे इसका वर्णन इस प्रकार जानना योग्य है—

नं० १ मिथ्यात्व गुणस्थान—बंधस्थान २३,–२५ के छहों प्रकार, २६ के दोनों प्रकार, २८ के दोनों प्रकार, २९ के पहिले ५ प्रकार, ३० के पहिले ४ प्रकार। इसतरह ५ बन्धस्थान होंगे।

नं० २ सासादन गुणस्थान—२९ पंचेन्द्रिय तिर्यंच सहित, २९ मनुष्य सहित, ३० पंचेन्द्रिय उद्योत सहित, २८ देव सहित ऐसे ४ बन्धस्थान होंगे।

नं० ३ मिश्र गुणस्थान—२९ मनुष्य सहित, २८ देवसहित २ स्थान होंगे।

नं० ४ असंयत गुणस्थान—२९ मनुष्य सहित, ३० मनुष्य तीर्थंकर सहित, २८ देवसहित, २९ देवतीर्थ सहित, ऐसे ४ स्थान होंगे।

गुण० नं०	ज्ञा०	दर्श०	वेद०	मोह०	आयु	नामकर्म	गोत्र	अन्त०	जोड़
१	५	९	१	२२	१	२३-२५-२६-२८-२९-३०	१	५	६७-६९-७०-७१-७३-७४
२	५	९	१	२१	१	२८-२९-३०	१	५	७१-७२-७३
३	५	६	१	१७	०	२८-२९	१	५	६३-६४
४	५	६	१	१७	१	२८-२९-३०	१	५	६४-६५-६६
५	५	६	१	१३	१	२८-२९	१	५	६०-६१
६	५	६	१	९	१	२८-२९	१	५	५६-५७
७	५	६	१	९	१	२८-२९-३०-३१	१	५	५६-५७-५८-५९
८	५	६ ४	१	९	०	२८-२९-३०-३१-१	१	५	५५-५६-५७-५८-२६
९	५	४	१	५ ४ ३ २ १	०	१	१	५	२२-२१-२०-१९-१८
१०	५	४	१	०	०	१	१	५	१७
११	०	०	१	०	०	०	१	०	१
१२	०	०	१	०	०	०	१	०	१
१३	०	०	१	०	०	०	१	०	१

न होनेपर विना फल दिये ही झड़ती हैं। जब फल देकर गिरती हैं उसे उदय कहते हैं। अब हमको यह वताना है कि किस गुणस्थानमें कितनी कर्म प्रकृतियोंका उदय तथा कितनी प्रकृतियोंका सत्व होता है।

कर्मोंका उदय।

१४८ प्रकृतियोंमेंसे १२२ प्रकृतियोंको उदयके हिसाबमें गिना गया है। ५ बंधन, ५ संघातको, ५ शरीरमें ही शामिल किया गया है, और वर्णादि २० के स्थानमें ४ को ही लिया गया है। इस तरह २६ कम होगई हैं। किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंकी उदय व्युच्छित्ति होती है उसका वर्णन निम्नप्रकार है। प्रयोजन यह है कि जिस गुणस्थानमें जितनी प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होगी उनका उदय आगे गुणस्थानोंमें न होगा, वहीं तक होगा।

नं०	गुणस्थान	उदय व्यु० संख्या	प्रकृतियोंके नाम
१	मिथ्यात्व	५	मिथ्यात्व आतप सूक्ष्म साधारण अपर्याप्त
२	सासादन	९	स्थावर एकेन्द्री दोइन्द्री तेइन्द्री चतुरिन्द्री ४ अनंतानुबन्धी कषाय
३	मिश्र	१	मिश्र मोहनीय
४	असंयत	१७	४ अप्रत्याख्यान, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक अंगोपांग, देवगति, कषाय, देवगत्यानुपूर्वी, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु, देवायु, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयश,
५	देशसंयत	८	४ प्रत्याख्यान, तिर्यंचायु, तिर्यंच गति नीच गोत्र, उद्योत, कषाय

नीचे अब यह बताते हैं कि किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंका उदय होता है तथा १२८ मेंसे किसका उदय नहीं होता है। अर्थात् अनुदय होता है—और कितनेकी व्युच्छित्ति होती है।

गुणस्थान	अनुदय प्रकृति संख्या	उदय प्रकृति संख्या	उदय, व्युच्छित्ति संख्या	विवरण
मिथ्यात्व	५	११७	५	अनुदय ५=तीर्थंकर, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, मिश्र, सम्यक्त
सासादन	११	१११	९	११=१०+नरकगत्यानुपूर्वी
मिश्र	२२	१००	१	२२=२०+तिर्यंच मनुष्य देवगत्यानु० २३–१ मिश्र=२२
अविरति	१८	१०४	१७	१८=२३–४ गत्यानुपूर्वी १ सम्यक्त=१८
देशविरति	३५	८७	८	
प्रमत्त	४१	८१	५	४१=४३–आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग
अप्रमत्त	४६	७६	४	
अपूर्वकरण	५०	७२	६	
अनिवृत्ति	५६	६६	६	
सूक्ष्म सां०	६२	६०	१	
उपशांत मोह	६३	५९	२	
क्षीणमोह	६५	५७	१६	
सयोग केवली	८०	४२	३०	८०=८१–१ कोई वेदनीय ३०=२९+१ कोई वेदनीय
अयोग केवलि	११०	१२	१२	

नोट—दो वेदनीयमेंसे १ सयोगी गुण०में व्युच्छिन्न होजायगी बाकी १ रहनेसे १२ व्युच्छिन्न होंगी। पहले नकशेमें १३ नाना जीवोंकी अपेक्षा है।

नं० १ ज्ञानावरण—इसकी पाचों प्रकृतियोंका एक उदय-स्थान है, जिनका एक साथ उदय १ ले गुणस्थानसे लेकर १२ वें गुणस्थान तक होता है।

नं० २ दर्शनावरण—इसके उदयस्थान २ हैं ४–५। जागते हुये जीवके १ ले गुणस्थानसे लेकर १२ वें तक ४ का उदयस्थान होगा। किसी निद्राका उदय नहीं होगा, परन्तु निद्रावान् जीवके पहलेसे ६ठे गुणस्थान तक ५ का उदयस्थान होगा। उपर्युक्त ४ के साथ ५ प्रकारकी निद्रामेंसे किसी एक निद्राका उदय बढ़ जायेगा। तथा ७ वेंसे १२ वें तक निद्रा प्रचलामेंसे किसी एकका उदय बढ़ जायगा।

नं० ३ वेदनीय कर्म—साता और असाताका उदय एक-साथ नहीं होगा। इसलिये १ का ही उदयस्थान १ लेसे १४ गुणस्थान तक होगा।

नं० ४ मोहनीयकर्म—इस कर्मके उदयस्थान ९ होते हैं। १०–९–८–७–६–५–४–२–१।

मोहनीय कर्ममें यह नियम है—दर्शन मोहनीयकी ३ प्रकृति-योंमेंसे एक समय किसी एकका उदय होगा। और क्रोध, मान, माया, लोभमेंसे एक समय किसी एकका उदय होगा। यद्यपि अनं-तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभका उदय एकसाथ होसक्ता है। हास्य रतिका एकसाथ, शोक अरतिका एकसाथ उदय होगा। तीन वेदोंमेंसे एक समय किसी एक वेदका ही उदय होगा। भय और जुगुप्साका एकसाथ उदय

नं० ३ उपर्युक्त ९ में भय विना ८

नं० ४ „ ९ में भय जुगुप्सा विना ७

३ मिश्र गुणस्थान—यहां मिश्र दर्शनमोहका उदय होगा, अनंतानुबन्धी कषायका उदय न होगा, उदय स्थान ४ होंगे। ९—८—८—७।

नं० १—मिश्र प्रकृति १

नं० ३—अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन क्रोध या मान या माया या लोभ ३

३ वेदोंमेंसे वेद १

हास्य रति या शोक अरतिमेंसे २

भय जुगुप्सा २

९

नं० २—उपर्युक्त ९ में जुगुप्सा विना ८

नं० ३— „ ९ में भय विना ८

नं० ४— „ ९ में भय जुगुप्सा विना ७

४ अविरति सम्यक्त—यहां वेदक सम्यक्त्व सहित जीवके सम्यक्त मोहनीका उदय होगा, इस अपेक्षा ४ उदयस्थान होंगे।

९—८—८—७

नं० १—सम्यक्त प्रकृति १

३ अप्रत्याख्यानादि क्रोध, मान, माया या लोभ ३

३ वेदमेंसे १

हास्य रति या शोक अरतिमेंसे एक २

भय जुगुप्सामेंसे २

९

६—प्रमत्तविरत—यहां अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय न होगा, वेदक सम्यक्तकी अपेक्षा ४ उदयस्थान होंगे।

७—६—६—५

नं० १—सम्यक्त प्रकृति	१
संज्वलन क्रोध या मान या माया या लोभ	१
३ वेदमेंसे	१
हास्य रति, शोक अरतिमें युगलमेंसे	२
भय जुगुप्सा	२
	७
नं० २ उपर्युक्त ७ में जुगुप्सा विना	६
नं० ३ „ ७ में भय विना	६
नं० ४ „ ७ में भय जुगुप्सा विना	५

औपशमिक और क्षायिक सम्यक्तकी अपेक्षा उदयस्थान ४ होंगे

६—५—५—४

ऊपरके स्थानोंमें १ सम्यक्त प्रकृति घट जावेगी।

७ अप्रमत्त विरत—यहां भी प्रमत्तविरतके समान उदयस्थान १—६—६—५ और ६—५—५—४ होंगे।

८ अपूर्वकरण—यहां औपशमिक या क्षायिक सम्यक्त ही होगा। उदयस्थान ४ होंगे ६—५—५—४।

नं० १ संज्वलन क्रोध या मान या माया या लोभ	१
३ वेदमेंसे	१
हास्य रति, शोक अरति युगलमेंसे	२
भय जुगुप्सा	२
	६

५ वां आयुकर्म—इस कर्मका एक ही उदयस्थान एक किसी आयुका होता है जिसको वह जीव नरक तिर्यंच मनुष्य वा देवगतिमें भोग रहा है।

६ ठा नामकर्म—इसके उदयस्थान १२ होते हैं।

२०, २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०. ३१, ९, ८ प्रकृतियोंके होते हैं। इनका विवरण नीचे लिखे प्रकार है:—

नं० (१) २० का उदयस्थान—

१२ प्रकृति ध्रुव उदय कहाती हैं जो सबके उदयमें रहती हैं वे ये हैं-तैजस शरीर, कार्माण शरीर, वर्णादि ४, अगुरुलघु, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ : १२

इन १२ में ४ गतिमेंसे १, ५ गतिमेंसे १, त्रस स्थावरमेंसे १, बादर सूक्ष्ममेंसे १, पर्याप्त अपर्याप्तमेंसे १, सुभग दुर्भगमेंसे १, आदेय अनादेयमेंसे १, यश अयशमेंसे एक। इन ८ को मिलानेसे २० का उदय १३ वें गुणस्थानमें सामान्य समुद्घात केवलीको कार्माण योगमें होता है।

नं० (२) २१ का उदयस्थान—इसके २ प्रकार हैं:—

नं० (१) प्रकार—उपर्युक्त २०में ४ गत्यानुपूर्वीमेंसे कोई १ मिलानेसे २१ का उदय विग्रहगतिमें मोड़ा लेकर एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाते हुये १—२ या ३ समय रहता है।

नं० (२) प्रकार—उपर्युक्त २० में तीर्थंकर प्रकृति जोड़नेसे २१ का उदय १३ वें गुणस्थानमें समुद्घात तीर्थंकर केवली के योगमें होता है।

नं० (६) २७ का उदयस्थान—

इसके ४ प्रकार हैं। नं० १ ऊपर २४ में औदारिक शरीर निकाल कर आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, परघात, प्रशस्त विहायोगति इन ४ को जोड़नेसे २७ का उदय ६ ठे गुणस्थानवर्ती आहारक शरीरधारी हरएक मुनिके होता है।

नं० २ प्रकार—ऊपर २४ में औदारिक अंगोपांग, वज्रवृषभनाराच संहनन व तीर्थंकर ३ प्रकृयोंके बढ़नेसे २७ का उदय तेरहवें गुणस्थानमें समुद्घात तीर्थंकर केवलीके होता है।

नं० ३ प्रकार—ऊपर २४ मेंसे औदारिक शरीर निकालकर वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, परघात, तथा १ कोई विहायोगति ऐसी ४ प्रकृति जोड़नेसे २७ का उदय देव या नारकीके होता है।

नं० ४ प्रकार—ऊपर २४ में परघात, आतप या उद्योत, तथा उच्छ्वास ३ प्रकृति जोड़नेसे २७ का उदय एकेन्द्रियोंके होता है।

नं० (७) २८ का उदयस्थान—

इसके ३ प्रकार हैं। **नं० १ प्रकार**—ऊपर २४ में औदारिक अंगोपांग एक कोई संहनत, परघात, व एक कोई विहायोगति ऐसी ४ प्रकृति मिलानेसे २८ का उदय २ इन्द्रिय ३ इन्द्रिय ४ इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंचके, सामान्य मनुष्यके व समुद्घात सामान्य केवलीके होता है।

नं० २ प्रकार—ऊपर २४ मेंसे, औदारिक शरीर निकालकर, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, परघात, प्रशस्त विहायोगति,

नं० ५ प्रकार—ऊपर २४ मेंसे औदारिक शरीर निकाल कर आहारक शरीर, अंगोपांग, परघात, प्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, सुस्वर इन ५ को मिलानेसे २९ का उदय ६ ठे गुणस्थानमें आहारक शरीरधारी मुनिके होता है।

नं० ६ प्रकार—ऊपर २४ मेंसे औदारिक शरीर निकालकर वैक्रियक शरीर, वैक्रियक अंगोपांग, परघात, एक कोई विहायोगति, उच्छ्वास, व एक कोई स्वर इस तरह ६ जोड़नेसे २९ का उदय देव या नारकियोंके होता है।

नं० (९) ३० का उदयस्थान—

जिसके ४ प्रकार हैं। नं० १–ऊपर २४में औदारिक आंगोपांग, १ कोई संहनन, परघात, एक कोई विहायोगति, उच्छ्वास व उद्योत, इन ६ को जोड़नेसे ३० का उदय, २ इन्द्रिय, ३ इन्द्री, ४ इन्द्रिय, पंचेन्द्रियके होता है।

नं० २ प्रकार—ऊपर ३० में उद्योत निकालकर १ कोई स्वर मिलानेसे ३० का उदय दो इन्द्रिय, ३ इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंचों तथा समान्य मनुष्यके होता है।

नं० ३ प्रकार—ऊपर ३० में स्वर निकालकर तीर्थंकर मिलानेसे ३० का उदय समुद्घात तीर्थंकरके होता है।

नं० ४ प्रकार—ऊपर २४ में अंगोपांग, संहनन, परघात, प्रशस्त, विहायोगति, उच्छ्वास, एक कोई स्वर ये ६ मिलानेसे ३० का उदय सामान्य समुद्घात केवलीके होता है।

प्रमत्तवि०—२५–२७–२८–२९–३०

अप्रमत्तवि०—३०

अपूर्वकरण उपशमक—३०

अनिवृत्तिकरण उपशमक—३०

सूक्ष्मसांपराय उपशमक—३०

उपशांत मोह—३०

अपूर्वकरण क्षपक—३०

अनिवृत्तिकरण क्षपक—३०

सूक्ष्मसांपराय क्षपक—३०

क्षीणमोह—३०

सयोगकेवली—२०–२१–२६–२७–२८–२९–३०–३१

अयोगकेवली—९–८

नं० ७ गोत्रकर्म—यह दो प्रकार हैं–नीचगोत्र, २ उच्च गोत्र, परन्तु एकसाथ उदयस्थान १ का ही है। ५ वें गुणस्थानतक नीचगोत्र उच्चगोत्र दोनोंमेंसे १ का उदय होसक्ता है। उसके आगे उच्चगोत्रका ही उदय है।

नं० ८ अन्तराय—इसके ५ भेद हैं। ५ प्रकृतिका उदयस्थान एक ही है, इनका उदय पहिले गुणस्थानसे लेकर १२ वें तक होता है। इस प्रकार आठों कर्मोंके उदयस्थान जानने योग्य हैं। नीचे नकशा दिया जाता है जिससे प्रकट होगा कि एक जीवके एक समयमें किस गुणस्थानमें आठों कर्मोंकी कितनी २ प्रकृतियोंका उदय होना संभव है—

८—कर्मोंकी सत्ता अथवा उनका सत्व।

सब जगह गुणस्थानोंमें किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंका असत्व, सत्व, सत्व व्युच्छित्ति होती है उसका विवरण निम्नप्रकार है:—

	असत्व	सत्व	सत्व व्यु०	
१ मिथ्यात्व	०	१४८	०	
२ सासादन	३	१४५	०	३=आहारक द्विक, तीर्थंकर। इनकी सत्तावाला सासादनमें नहीं जाता।
३ मिश्र	१	१४७	०	१=तीर्थंकर। तीर्थंकर प्रकृतिके सत्ववाला इस गुणस्थानमें नहीं जाता।
४ असंयत	०	१४८	१	१=नरकायु।
५ देशसंयत	१	१४७	१	१=असत्व=नरकायु। यहां १ व्यु०=तिर्यंचायु।
६ प्रमत्त	२	१४६	०	२=नरकायु, तिर्यंचायु। इनकी सत्तावाला प्रमत्तमें नहीं जावेगा।
७ अप्रमत्त	२	१४६	८	८=४ अनंतानुबंधी, ३ दर्शनमोहनीय, १ देवायु। यह कथन क्षपक श्रेणीकी अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्व ४ से ७ वें तक होसकता है, ७ प्रकृतिकी सत्ता ४ थेसे ७ वें तक नहीं रहेगी।
८ अपूर्वकरण क्षपक	१०	१३८	०	१०=४ अनंतानुबंधी, ३ दर्शनमोहनीय, ३ नरक तिर्यंच देवायु।
८ अनिवृत्तिकरण क्ष०	१०	१३८	३६	३६=नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति तिर्यंचगत्यानुपूर्वी ३ विकलत्रय, ३ स्त्यानगृद्धि आदि निद्रा. उद्योत, आतप, एकेन्द्री, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर, ४ अप्रत्याख्यान, ४ प्रत्याख्यानके साथ ६ हास्यादि, ३ वेद, संज्वलन क्रोध, माया, मान।
९ सूक्ष्म क्ष०	४६	१०२	१	१=संज्वलन लोभ।
१२ क्षीणमोह	४७	१०१	१६	१६=५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय, निद्रा प्रचला।

यदि देवायु बांधी होगी तो १३९ का सत्व होगा। ऊपरके कथनसे विदित होगा कि कर्म प्रकृतियोंकी सत्ता ऊंचे गुणस्थानोंतक चली जाती है। १३ वें गुणस्थानतक ६३ की सत्ता दूर होती है, ८५ की सत्ता १४ वें गुणस्थानतक मिलती है। इसका कारण यही है कि कर्मोंकी स्थिति अर्थात् मर्यादा बहुत पड़ती है। जबतक स्थिति पूरी न हो उनका संचय बना रहता है। बंध होनेके पश्चात् आबाधा कालके पीछे कर्म वर्गणायें समय २ झड़ती रहती हैं, तो भी स्थिति पूर्ण हुये पर्यन्त बनी रहती हैं। निमित्त अनुकूल नहीं होनेसे वे वर्गणायें विना फल दिये ही झड़ जाती हैं। उपरके कथनसे विदित होगा कि जिन गुणस्थानोंमें जिनका उदय नहीं है वहां भी उनकी सत्ता मौजूद है। उदाहरणके लिये नीच गोत्रका उदय ५ वें गुणस्थान तक ही है, पर सत्ता १४ वें गुणस्थान तक है। सत्ताका द्रव्य कर्म विना उदय आये अपना हानि व अपना लाभ नहीं कर सकता। ऊपर नाना जीवोंकी अपेक्षा सत्ताका कथन है। आगे बताया जाता है कि हरएक गुणस्थानमें एक जीवके आठों कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोंकी कितनी सत्ता रहेगी।

नं० १ ज्ञानावरण कर्म—इसकी ५ प्रकृतियां हैं, इन पांचोंकी सत्ता १ ले गुणस्थानसे १२ वें तक होगी।

नं० २ दर्शनावरण कर्म—इसके ९ भेद हैं। ९ की सत्ता अनिवृत्तिकरण क्षपकके प्रथम भाग तक फिर स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा प्रचला प्रचला ये ३ निद्रा विना ६ की सत्ता क्षीणकषायके अंतिम समयके पहिले समयतक रहेगी। फिर निद्रा प्रचला विना ४ की सत्ता

देशविरत—२८,२४, २३, २२, २१

प्रमत्त—२८, २४, २३, २२, २१

अप्रमत्त—२८, २४, २३, २२, २१

अपूर्वकरण उपशममें—२८, २४, २१, क्षपकमें—२१

अनिवृत्तिकरण उपशममें—२८, २४, २१

क्षपकमें—२१, १३, १२, ११, ५, ४, ३, २, १

सूक्ष्मसांपराय उपशममें—२८, २४, २१। क्षपकमें—१

उपशांतमोह—२८, २४, २१

५ आयुकर्म—भुज्यमान आयु और बद्धमान आयुकी अपेक्षा २ आयुकी सत्ता ७वें गुण थान तक होगी तथा ८–९–१०–११ उपशम श्रेणीमें भी २ की सत्ता रहेगी। फिर ८–९–१०–१२ क्षपकमें तथा १३–१४ गुणस्थानमें १ भुज्यमान आयुकी सत्ता रहेगी, अतः सत्वस्थान २ और १ के २ होंगे।

६ नामकर्म—इसके सत्वस्थान १३ हैं–९३, ९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७, १०, ९ इनका विवरण नीचे प्रकार है–

नं० (१) ९३ नाम कर्मकी सर्व प्रकृति। नं० (२) ९२ तीर्थंकर विना सब। नं० (३) ९१=९३ में आहारक द्विक विना। नं० (४) ९०=९३ में तीर्थंकर आहारक द्विक विना। नं० (५) ८८=९० में देवगति, देवगत्यानुपूर्वी विना। नं० (६) ८४=८८ में नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक अंगोपांग

क्षीणमोह——८०, ७९, ७८, ७७

सयोगकेवली——८०, ७९, ७८, ७७

अयोग केवली अंत समयके पहिलेतक——८०, ७९, ७८, ७७

अन्त समयमें——१०, ९.

७ **गोत्रकर्म**——इसके दो भेद हैं–१ ले गुणस्थानमें २ अथवा १ की सत्ता रहेगी। शेष १४ तक २ की सत्ता रहेगी।

८ **अन्तरायकर्म**——इसके ५ भेद हैं–पांचोंकी सत्ता १२ वें गुणस्थान तक रहेगी।

नीचे १४ गुणस्थानोंमें १ जीवके ८ कर्मकी १४८ प्रकृतिमेंसे कितनीकी सत्ता रहेगी उसका नकशा——

इस तरह इस अध्यायमें यह भले प्रकार बतला दिया है कि दैव या कर्मोंका संचय या बन्ध इस संसारी जीवके अपने अशुद्ध भावोंसे होता है, किस किस गुणस्थान या दर्जेमें कितने कर्मोंका बंध उदय या सत्व होता है। इससे प्रगट होगा कि यह जीव ही अपने दैवको आप ही बनानेवाला है, और आप ही उसका फल भोक्ता है। और ये जीव ही अपने दैवको अपने पुरुषार्थसे बदल सक्ता है और नाश कर सक्ता है. इस बातको आगे बताया जायेगा। कर्मोंका विशेष बंध उदय सत्वका वर्णन श्री गोम्मटसार कर्मकांडजी नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ति कृतसे जानना योग्य है, यहां तो दिग्दर्शन मात्र कराया है। जैन सिद्धान्तमें इस विषयका बहुत गम्भीर वर्णन है, ज्ञानके खोजियोंको उसका मनन करना चाहिये।
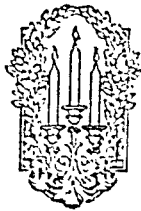
कहनेका प्रयोजन यह है कि चाहे कोई कर्मसिद्धान्तको जानता हो चाहे न जानता हो, हरएक प्राणीको निरन्तर पुरुषार्थी होना चाहिये। अपनी उचित आवश्यक्ताओंकी पूर्तिका यत्न करना ही चाहिये। दैवके भरोसे बैठ रहना मूर्खता है। प्रयत्नके विना दैव सहायी नहीं होसकता। पुरुषार्थ बड़ी वस्तु है, यह आत्माकी शक्तिका प्रकाश है, जितना जितना आत्माका यह गुण प्रगट होता जाता है, उतना उतना पुरुषार्थ करनेका साधन अधिक होता जाता है। पुरुषार्थमें यह शक्ति है कि संचित कर्मको बदल देवे और विनाश कर देवे। यह सब हम बता चुके हैं कि राग द्वेष मोहसे कर्मोंका बंध होता है तब इनके विरोधी वीतरागभावसे कर्मोंका नाश होता है। पुरुषार्थके द्वारा संचित कर्ममें नीचे लिखे प्रकार परिवर्तन होसकता है—

नं० १–संक्रमण—एक कर्मकी प्रकृतिका बदलकर दूसरी प्रकृतिरूप होजाना संक्रमण है। मूल ८ कर्मोंमें परस्पर संक्रमण नहीं होता, परन्तु हरएक मूलकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंमें परस्पर संक्रमण हो सकता है। जैसे असातावेदनीयका सातामें, साताका असातामें; नीच गोत्रका उच्चमें, उच्चका नीच गोत्रमें, क्रोध, मान, माया, लोभका परस्परमें, परन्तु दर्शन मोहनीयका, चारित्र मोहनीयरूप संक्रमण नहीं होता, न ४ प्रकारकी आयुका परस्पर संक्रमण होता है।

जीवोंके निर्मल भावोंके निमित्तसे पाप प्रकृति, पुण्य प्रकृतिमें पलट जाती है जब कि विशेष मलीन भावोंसे पुण्य प्रकृति पापरूप होजाती है। जैसे किसीने किसीको दुःख पहुंचाया तो असाताका बंध किया था पश्चात् उसने पश्चात्ताप किया और वीतरागभावकी भावना

समय असातावेदनीयकी कुछ वर्गणाओंकी उदीरणा होना संभव है।

नं० ५ उपशम—कर्मवर्गणाओंको उदयमें आनेको अशक्य कर देना उपशम है। उपशममें कुछ कालके लिये कर्मके उदयको दबा दिया जाता है। जैसे उपशम सम्यक्तके होनेपर मिथ्यात्व कर्मका उपशम अंतर्मुहूर्त्तके लिये कर दिया जाता है जैसे—मट्टीसे मिले पानीमें कतक फल डालनेसे नीचे बैठ जाती है, निर्मल पानी ऊपर आ जाता है, इसी तरह उपशम भाव जानना जाहिये।

नं० ६ क्षयोपशम—घातिया कर्मोंमें क्षयोपशम होता है। उनमें कुछ सर्वघाती होती हैं, कुछ देशघाती, सर्वघाती आत्माके पूर्ण गुणको ढांकती हैं जब देशघाती गुणके कुछ अंशोंको ढक लेती हैं। किसी कर्मकी सर्वघाती वर्गणाओंका उदयाभावी क्षय अर्थात् फल न देकर क्षय कर दिया जाता है और उदयमें न आती हुई सर्वघाती वर्गणाओंको उपशममें रक्खा जाय तथा देशघाती वर्गणाओंका उदय हो, इस तरह जहां क्षय उपशम उदय तीनों बातें हों उसे क्षयोपशम कहते हैं। यह जीव अपने ज्ञान दर्शन और आत्मबलके पुरुषार्थसे कर्मोंका क्षय, उपशम व क्षयोपशम कर सकता है।

नं० ७ क्षय—वीतराग भावके पुरुषार्थसे किसी संचित कर्मको मूल सत्तासे दूर कर देनेको क्षय कहते हैं।

इस तरहसे यह आत्मा अपने वीतराग तथा विशुद्ध भावोंके बलसे पापकर्मोंको पुण्यमें बदल सकता है, कर्मोंकी स्थिति घटा सकता है, तिर्यंच मनुष्य और देवायुकी स्थिति बढ़ा सकता है, पुण्यकर्मोंका अनुभाग बढ़ा सकता है, पापकर्मोंका उपशम क्षय क्षयोपशम कर सकता है।

पारणामिक भाव जीवका स्वभाव है, औपशमिक क्षयोपशमिक और क्षायिक भावोंमें जीवका पुरुषार्थ कर्मोंके हटनेसे प्रगट होता है। औदयिक भावोंमें कर्मके उदयकी मुख्यता है। यहां औदयिक भावोंको रोकनेका या दबानेका पुरुषार्थ यह जीव अपने औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक भावोंके द्वारा करता है, कभी सफल होता है कभी असफल। जब औदयिक भाव तीव्र हों और पुरुषार्थ मंद हो तब औदयिक भावको रोकनेमें असमर्थ होता है। यदि पुरुषार्थ प्रबल हो तो औदयिक भावपर विजय प्राप्त हो जाती है। अन्तमें क्षायिक भावोंके द्वारा औदयिक भावोंपर पूर्ण विजय प्राप्त हो जाती है और यह आत्मा परम शुद्ध परमात्मा होजाता है। इसमें भावोंके भेद नीचे प्रकार हैं—

औपशमिक भाव—दो भेद हैं, औपशमिक सम्यक्त औपशमिक चारित्र, इनमेंसे उपशमसम्यक्त मुख्य प्रारम्भिक पुरुषार्थ है, इसके विना मोक्ष-पुरुषार्थका प्रारम्भ नहीं होसकता। जिसको यह भाव प्राप्त होजाता है, वह अवश्य कभी न कभी मोक्ष पुरुषार्थका साधन कर लेता है। अनादिकालसे अज्ञानी जीव ४ अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्वके उदयसे अपने आत्मस्वरूपको भूले हुये है।

सैनी पंचेंद्रिय जीव जब अपने ज्ञानबलसे श्री गुरुके उपदेशको पाकर वा शास्त्र अवलोकन कर, वा अन्य किसी निमित्तसे जब यह समझ जाता है कि मेरे आत्माका स्वरूप शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार, ज्ञाता, दृष्टा, परमात्मारूप है और शरीरादिकको कर्मादिकका सम्बन्ध तथा रागादिक विकार मेरा स्वभाव नहीं ऐसा भेद विज्ञान

योग्य पुरुषार्थसे ही अवधिज्ञान मनःपर्यय ज्ञानका प्रकाश होता है।

३ दर्शन—चक्षु, अचक्षु, अवधि–इनमेंसे प्रथम दो दर्शन प्रायः संसारी प्राणियोंके होते हैं। पुरुषार्थके द्वारा अवधिदर्शनका लाभ होता है।

५ लब्धियां—क्षयोपशम दान, क्षयोपशम लाभ, क्षयोपशम भोग, क्षयोपशम उपभोग, क्षयोपशम वीर्य।

अन्तराय कर्मके क्षयोपशमसे इन ५ शक्तियोंका पुरुषार्थ प्रगट होता है। ऐकेन्द्रियसे पंचेन्द्रियतक सब जीवोंको यह पुरुषार्थ प्राप्त होता है। जितना २ क्षयोपशम बढ़ता जाता है उतना २ इनका वीर्य अधिक होता जाता है। इन्हीं क्षयोपशम लब्धियोंको आत्मबल कहते हैं। ये आत्मबल पुरुषार्थोंके साधनमें परम सहायक होता है।

क्षयोपशम सम्यक्त—या वेदक सम्यक्त। जब सम्यक्त मोहनीय प्रकृतिका उदय होता है, और ४ अनन्तानुबंधी कषाय तथा मिश्र और मिथ्यात्वका उदय नहीं होता है, तब ये सम्यक्तभाव प्रकाशित होता है। सम्यक्त प्रकृतिके उदयसे इस भावमें कुछ मलीनता रहती है। इसी सम्यक्तके द्वारा क्षायिक सम्यग्दर्शनका लाभ होता है।

क्षयोपशम चारित्र—ये चारित्रगुण संज्वलन कषाय और ९ नोकषायके उदयसे, परन्तु शेष १२ कषायके उदय न होनेसे ६ ठे ७ वें गुणस्थानमें साधुके होता है। इस चारित्रसे धर्मध्यानका पुरुषार्थ भली प्रकार सधता है और शुक्लध्यान होनेकी योग्यता आती है।

संयमासंयम—ये देश चारित्र ५ वें देशविरत गुणस्थानमें श्रावकोंके होता है तब अनंतानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषायोंका

उदय नहीं होता है, प्रत्याख्यानादि कषायोंका उदय मंद होता जाता है। इसी पुरुषार्थसे एक श्रावक साधु होनेकी योग्यता प्राप्त करता है। इस तरह क्षयोपशम भावके १८ भेद जानना चाहिये।

३ **क्षायिक भाव**—क्षायिक भाव ९ प्रकारका होता है। इनमें मुख्य क्षायिक सम्यग्दर्शन है। क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि आत्मानुभवके द्वारा प्राप्त विशुद्ध भावोंसे जब ४ अनंतानुबन्धी कषाय और ३ दर्शनमोहनीय इस तरह ७ प्रकृतियोंका क्षय कर देता है तब क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रकाशमान हो जाता है। ये बड़ा भारी पुरुषार्थ है। इसके द्वारा एक साधक अपने आत्माका साक्षात्कार करता हुआ मोक्ष पुरुषार्थका विशेष उद्यम करता है। यदि निर्वाण निकट हो तो यह निर्ग्रन्थ साधु होकर क्षपक-श्रेणीके द्वारा दशवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अंतमें मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय करके क्षायिक चारित्र या वीतराग यथाख्यात चारित्रको प्राप्त कर लेता है। फिर ये महात्मा क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक चारित्रके प्रतापसे १२ वें क्षीणमोह गुणस्थानके अंतमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण अंतराय ३ घातिया कर्मोंका नाश कर एकसाथ ७ प्रकार क्षायिक भावको प्राप्त कर लेता है, अर्थात् अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतदान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य इस तरह ९ क्षायिक भावोंसे मुक्त हो अरहंत परमात्मा हो जाता है। आयु पर्यन्त रहकर शरीर रहित निकल सिद्ध परमात्मा होजाता है। इस तरह मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धि हो जाती है।

४ **औदयिक भाव**—जो भाव कर्मोंके उदयसे हों वे औद-

यिक भाव हैं। सिद्धान्तमें इसके २१ भेद बताये हैं।

४ गति—नरक तिर्यंच मनुष्य देव। चार प्रकारकी गति नाना कर्मके उदयसे ४ गतिसम्बन्धी जीवकी विशेष अवस्था प्राप्त होती है। वहां सहकारी और भी कर्मोका उदय रहता है, जिससे शरीरादिकी अवस्था बनती है। इसमें अघातिया कर्मोका उदय भी शामिल है। इस दैवको धर्मध्यानके पुरुषार्थसे निर्वल किया जासक्ता है, जिससे पापकर्मोंका उदय कम हानिकारक होसकता है।

४ कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ कषायोंके उदयसे चार प्रकार कषायभाव होते हैं। ये भी दैव हैं। इनको भी धर्मध्यानके पुरुषार्थसे कम किया जासकता है।

३ लिंग—ये ३ भाव वेद हैं, जो ३ वेदकर्मके उदयसे होते हैं। ये भी दैव हैं। इनके उदयको भी धर्मपुरुषार्थसे मंद किया जासक्ता है।

१ मिथ्यादर्शन—यह इस ही कर्मके उदयसे मिथ्यात्वभाव होता है, ये भी दैव है, इसके उदयको सम्यग्दर्शनकी भावनासे दूर किया जासकता है।

१ अज्ञान—ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे अज्ञानभाव होता है। जबतक केवलज्ञान न हो, १२ वें गुणस्थान तक रहता है। सम्यग्ज्ञानके मननसे अज्ञानभाव कमती किया जासकता है।

१ असंयत—चारित्रमोहनीयके उदयसे असंयत भाव ४ थे गुणस्थान तक होता है। तत्वके मननसे जब अप्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम कर दिया जाता है तब यह भाव नहीं रहता।

निवारण किया जा सकता है। विचारशील मानवको उचित है कि अपने पुरुषार्थका प्रयोग सदा करता रहे तव वह मंदोदयको रोक सकेगा। यद्यपि तीव्र कर्मोंका उदय रोका नहीं जा सकेगा फिर भी ज्ञानी जीव उस तीव्र उदयको समभावसे भोग लेता है, तव आगामीके लिये उनसे छूट जाता है।

पारणामिक भाव।

जीवोंके स्वाभाविक भावोंको पारणामिक भाव कहते हैं। निश्चयसे एक जीवत्व ही पारणामिक है, जो जीवके शुद्ध स्वभावको वनाता है। दूसरे२ भाव भव्यत्व अभव्यत्व व्यवहारनयसे पारिणामिक है। जिनमें मोक्ष पुरुषार्थ सिद्ध करनेकी योग्यता हो वे भव्यत्व भावके धारी जीव हैं। जिनमें ऐसी योग्यता नहीं है वे जीव अभव्यत्वभावके धारी हैं। ये वात सर्वज्ञ-ज्ञानगोचर है कि कौन भव्य है और कौन अभव्य। हम सव लोगोंका कर्तव्य है कि अपनेको भव्य मानकर मोक्षका पुरुषार्थ करें। यदि कदाचित् कोई अभव्य हो तो उसका पुरुषार्थ व्यर्थ नहीं जायगा, पुण्यवन्धसे संसारमें उच्च अवस्थाको प्राप्त करेगा। पुरुषार्थ कभी व्यर्थ नहीं जाता है. पुरुषार्थको ही प्रधान मानना चाहिये, क्योंकि पुरुषार्थी भव्य जीव ही सर्व दैव या कर्मका संहार करके स्वतंत्र या मुक्त हो जाते हैं।

अध्याय पांचवाँ ।

धर्म पुरुषार्थ ।

पुरुषार्थ ४ हैं—१ धर्म, २ अर्थ, ३ काम, ४ मोक्ष । इनमें धर्म पुरुषार्थ मुख्य है, क्योंकि धर्म पुरुषार्थका अन्तिम फल मोक्ष है और जबतक मोक्ष न हो, तबतक मध्यम फल अर्थ कामकी सिद्धि है। इस अध्यायमें धर्म पुरुषार्थका वर्णन किया जाता है। धर्म उसे कहते हैं, जो दुःखोंसे छुड़ाकर सुखमें धारण करे।

धर्म स्वभावको भी कहते हैं। आत्माका स्वभाव ही धर्म है। आत्मस्वभावका श्रद्धान ज्ञान और आचरण रत्नत्रय धर्म है। निश्चयसे धर्म आत्मामें है, आत्मासे बाहर कहीं धर्म नहीं है। जिन निमित्तोंसे आत्मामें स्थिर हुआ जाता है उनको भी धर्म कहते हैं। धर्मके निमित्त मिलाना व्यवहार धर्म है। धर्ममयी होना निश्चय धर्म है।

आत्माका स्वभाव पहले बता चुके हैं कि ये आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि शुद्ध गुणोंका समुदाय है, अमूर्तीक द्रव्य है, सिद्धके समान शुद्ध है। अपने आत्माको शुद्ध अनुभव करना निश्चय धर्म है। इसमें आत्माका श्रद्धान ज्ञान चारित्र तीनों गर्भित हैं। इसको साधन करनेके लिये व्यवहारधर्म दो प्रकार है—१ साधुमार्ग, २ गृहस्थधर्म।

साधुका व्यवहारधर्म ।

जो गृह त्यागकर १३ प्रकारका चारित्र पालते हैं वे साधु हैं।

५ महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। इनका विस्तार नीचे प्रमाण है—

(१) अहिंसा महाव्रत—रागद्वेषादि भावोंसे आत्माकी रक्षा करना भाव अहिंसा है। त्रस स्थावर सब प्राणियोंकी रक्षा करना द्रव्य अहिंसा है। साधु दोनों प्रकारकी अहिंसा पूर्णपने पालनेका अभ्यास करते हैं। अहिंसा व्रतके रक्षार्थ ५ प्रकारकी भावनायें भाते हैं—

नं० १ वचनगुप्ति—वचनकी सम्हाल रखना।

नं० २ मनोगुप्ति—मनके भावोंकी सम्हाल रखना।

नं० ३ ईर्यासमिति—भूमि देखकर चलना।

नं० ४ आदाननिक्षेपण समिति—वस्तुओंको देखकर रखना, उठाना।

नं० ५ आलोकितपानभोजन—भोजनपान आदि देखकर करना।

(२) सत्य महाव्रत—साधुजन पूर्णपने सत्यव्रत पालते हैं। चार प्रकार असत्यका त्याग करते हैं।

(१) जो चीज है उसको कहना 'नहीं है।'

(२) जो चीज नहीं है उसको कहना 'है।'

(३) चीज हो कुछ और कहना कुछ और।

(४) निन्दनीय, अप्रिय, कठोर, पापवर्द्धक वचन।

सत्य महाव्रतकी रक्षाकी पांच भावनाएं साधुजन भाते हैं:—

(१) क्रोध करनेका त्याग।

(२) लोभका त्याग।

(३) भयका त्याग ।

(४) हास्यका त्याग ।

(५) शास्त्रानुकूल वचन कहना ।

(३) अचौर्य महाव्रत—विना दी हुई किसी वस्तुको कषायवश लेनेका त्याग । साधुगण जंगलके फल फूल, नदीका जल भी स्वयं नहीं लेते, इस व्रतके रक्षार्थ पांच प्रकारकी भावनाएं भाते हैं।

(१) शून्य आगार—सूने स्थानमें ठहरना जहां किसीका माल असबाब रखा हो । जैसे वन, पर्वत, गुफा, नदीतट आदि ।

(२) विमोचितावास—छोड़े हुए, ऊजड़ पड़े हुए मकानमें ठहरना ।

(३) परोपरोधाकरण—जहां ठहरे हों वहां कोई दूसरा आवे तो मना नहीं करना; अथवा जहां कोई मना करे वहां न ठहरे ।

(४) भैक्षशुद्धि—भिक्षा शुद्ध ग्रहण करे । दोषपूर्ण भोजन लेनेसे चोरीका दोष आता है ।

(५) सधर्माविसंवाद—सहधर्मियोंसे किसी धार्मिक पुस्तकके सम्बन्धमें मेरा तेरा करके झगड़ा नहीं करना ।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत—साधुगण मन, वचन, काय व कृत कारित अनुमोदनासे नव प्रकार कुशीलका त्याग करते हैं । मनुष्यनी, देवी, तिर्यञ्चनी व चित्रामकी—चार प्रकारकी स्त्रियोंके सम्बन्धसे विकारभाव चित्तमें नहीं लाते हैं ।
इसकी रक्षार्थ पांच भावनाएं भाते हैं—

(१) स्त्रियोंमें रागभाव बढ़ानेवाली कथाओंका त्याग । (२)

स्त्रियोंके मनोहर अंग देखनेका त्याग। (३) पूर्वमें भोगे हुए भोगोंके स्मरणका त्याग। (४) कामोद्दीपक व पौष्टिक भोजनका त्याग। (५) अपने शरीरके श्रृंगार करनेका त्याग।

(५) **परिग्रह-त्याग महाव्रत**—साधुजन दश प्रकारके परिग्रहका स्वामित्व नहीं रखते हैं—क्षेत्र, मकान, चांदी, सोना, गोवंश, धन धान्य, दासी दास, वस्त्र, वर्तन। और बुद्धिपूर्वक चौदह प्रकार अन्तरङ्ग परिग्रहका भी मोह त्याग देते हैं। यह चौदह हैं—मिथ्यात, क्रोध, मान, माया, लोभ. हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। साधुओंका स्वामित्व अपने गुणोंपर रहता है।

इस व्रतकी रक्षाके लिये पांच प्रकारकी भावना भाते हैं:—

पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें मनोहर या अमनोहर होनेपर राग-द्वेष नहीं करना।

इस तरह साधुजन पांच भाव तो पूर्णपने पालते हैं, धर्म पुरुषार्थका साधन करते हैं।

पांच महाव्रतोंकी रक्षाके लिये पांच समिति पालते हैं—

(१) ईर्यासमिति—चार हाथ आगे भूमि निरख कर दिनमें प्रासुक भूमिपर चलना, जिससे कोई स्थावर व त्रस जीवोंका वध न हो।

(२) भाषासमिति—शुद्ध मिष्ट मर्यादारूप वाणी कहना. जिससे सुननेवालोंको अप्रिय न हो।

(३) एषणासमिति—भिक्षासे जाकर गृहस्थ द्वारा दिये हुए शुद्ध आहारको दोष टालकर लेना। जो भोजनपान गृहस्थने

अपने कुटुम्बके लिए तैयार किया हो उसीका अंश ग्रहण करना ।

(४) आदान निक्षेपण समिति—शास्त्र, पीछी, कमंडल आदि देखकर रखना उठाना ।

(५) उत्सर्ग समिति—मल मूत्र इत्यादिक जन्तु रहित भूमिपर करना ।

तीन गुप्तियोंको भी साधुजन पालते हैं—

(१) मनोगुप्ति—मनको विषय कषायसे रोककर धर्मध्यानमें लगाए रखना ।

(२) वचनगुप्ति—मौनसे रहना या कभी शास्त्रोक्त अल्प वचन कहना ।

(३) कायगुप्ति—प्रमाद रहित आसनसे सोना बैठना ।

इसप्रकार तेरह प्रकार चारित्रको पालते हुए साधुगण छः आवश्यक नित्यकर्म करते हैं—

(१) सामायिक—समभावोंके साथ आत्माका चिन्तवन करना ।

(२) प्रतिक्रमण—पिछले दूषणोंको स्मरण कर उनके निवारणके लिये धर्मध्यान करना ।

(३) प्रत्याख्यान—आगामी दोषोंसे बचनेके लिए संकल्प करना ।

(४) स्तुति—पञ्च परमेष्टीकी व तीर्थंकारोंकी स्तुति करना ।

(५) वन्दना—एकको मुख्यकर नमस्कार करना ।

(६) कायोत्सर्ग—शरीरका ममत्व त्यागकर आत्मचिंतवन करना ।

इसप्रकार व्यवहार चारित्रको पालते हुए साधुगण निश्चय चारित्र पर लक्ष्य रखते हैं अर्थात् निश्चय नयसे अपने आत्माको शुद्ध ध्यानमें लेकर उसीका अनुभव करते हैं। निश्चय चारित्र ही सच्चा सम्यक्चारित्र है। इसीका निमित्त कारण व्यवहार चारित्र है। निश्चय चारित्र द्वारा जो वीतरागताका लाभ होता है वही धर्म पुरुषार्थ है। उसके द्वारा नवीन कर्मोंका संवर होता है और पुराने कर्मोंकी निर्जरा होती है। साधुगण इस चारित्रद्वारा धर्मध्यानको पूर्ण कर शुक्लध्यानको ध्याते हैं। इसके प्रतापसे चारों घातिया कर्मोंको नाश करते हैं और अरहन्त परमात्मा होजाते हैं। फिर शेष चार अघातियाको भी नाश कर सिद्ध परमात्मा होजाते हैं। इस तरह मोक्ष पुरुषार्थका साधन करते हैं। दैवका सर्वथा नाश कर देते हैं।

गृहस्थ धर्म।

गृहस्थोंके लिए भावशुद्धिके वास्ते यह आवश्यक है कि वे नित्य छः कर्मका साधन करें।

(१) देवपूजा—जो अरहंत और सिद्ध परमात्मा सर्वज्ञ वीतराग हैं उनकी भक्ति करनेसे भावमें निर्मलता होती है। यह भक्ति प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों प्रकारसे हो सकती है। समवसरणमें स्थित अरहन्त भगवानकी अथवा उनकी तदाकार मूर्तिकी भक्ति करना प्रत्यक्ष भक्ति है।

प्रतिमाके देखनेसे वही भाव होते हैं जो भाव प्रत्यक्ष किसीके देखनेपर होते हैं, क्योंकि मूर्ति उन्हीं भावोंको दर्शानेवाली है। प्रत्यक्षमें भी दृष्टि जड़ शरीरपर ही पड़ती है इसीसे भाव निर्मल हो

जाते हैं, उसी तरह उनकी मूर्तिके दर्शनसे भाव निर्मल होजाते हैं। भक्तिके लिए स्तोत्र पढ़ना व पूजा पढ़ना जरूरी है। पूजा आठ द्रव्यसे की जाती है जिससे नीचे प्रकार पवित्र भावना होती है—

जल चढ़ाते वक्त भावना की जाती है, जन्मजरा मरणका नाश हो। चन्दन चढ़ाते समय यह भावना की जाती है कि संसारका ताप शांत हो। अक्षत चढ़ाते वक्त यह भावना की जाती है कि अक्षय गुणोंकी प्राप्ति हो। पुष्प चढ़ाते वक्त यह भावना की जाती है कि कामका विकार शांत हो। नैवेद्य चढ़ाते वक्त यह भावना की जाती है कि क्षुधा रोग शांत हो। दीप चढ़ाते वक्त यह भावना की जाती है कि मोह अन्धकार दूर हो। धूप खेते समय यह भावना की जाती है कि आठों कर्मोंका जल्द नाश हो। फल चढ़ाते वक्त यह भावना की जाती है कि मोक्षफलकी प्राप्ति हो। सामग्रीके आलम्बनसे देर तक भाव निर्मल हो सकते हैं।

(२) गुरुपास्ति—साधुओंकी उपासना करना, उनकी सेवा व वैय्यावृत्ति करना, उनसे धर्मोपदेश लेना।

(३) स्वाध्याय—वीतराग भावको बढ़ानेवाले जैन शास्त्रोंका पढ़ना, सुनना व मनन करना। इससे ज्ञानकी वृद्धि भी होती है। परिणाम ऐसे निर्मल होते हैं कि कर्मोंकी स्थिति कट जाती है।

(४) संयम—मन इन्द्रियोंको रोकनेके लिए भोग उपभोग आदिमें संयमरूप वर्तना चाहिए, जिससे कषाय मंद होती हैं।

(५) तप—गृहस्थोंको सवेरे व शाम दोनों समय णमोकार मंत्रका जाप व सामायिक करना चाहिए।

(६) दान—भक्तिपूर्वक धर्मात्माओंको मुनि, आर्जिका, श्रावक व श्राविकाओंको व दयापूर्वक प्राणीमात्र पर आहार औषधि अभय व ज्ञान दान करना चाहिए।

इन छः कर्मोंके साधनसे जो भावोंमें निर्मलता होती है उससे पापोंका क्षय व पुण्यका लाभ होता है। अशुभ दैव कटता है, शुभ दैवका संचय होता है।

बारह व्रत—गृहस्थोंको बारह व्रत भी पालने चाहिये। उनका संक्षेप स्वरूप इस प्रकार है। प्रथम—पांच अणु व्रत—(१) **अहिंसा-अणुव्रत**—गृहस्थीको अहिंसा धर्मपर लक्ष्य रखते हुए यथाशक्ति उसपर चलना चाहिये। अहिंसा दो प्रकारकी है—संकल्पी और आरम्भी।

संकल्पी हिंसा—वह हिंसा है जो हिंसाके ही इरादेसे की जावे। इसे गृहस्थीको बचाना चाहिये। उसके उदाहरण नीचे प्रकार हैं—

(१) धर्मके नामपर पशुबलि करना। हिंसामें धर्म मानना अज्ञान है। कोई देवी देवता मांस और रुधिरका भूखा नहीं है। इसलिए पशुओंको मारकर भेंट देना घोर अज्ञान है।

(२) शिकारके द्वारा शौकसे पशुओंको मारना। अपना मन प्रसन्न करनेके लिए हिरन आदि पशुओंके प्राण लेना घोर निर्दयता है। मनुष्यको दयावान होना चाहिये।

(३) मांसाहारके लिए पशुओंको मारना। मांसका भोजन मनुष्यको उचित आहार नहीं है क्योंकि घोर पशुघातका कारण है। मांसके लिए पशुओंको कसाईखानेमें बड़ी क्रूरतासे मारा जाता है।

मांसके द्वारा शरीरमें शक्ति भी कम आती है। अन्नादि व बादाम आदिमें जब १०० में ९० अंश शक्तिवर्धक पदार्थ हैं तो मांसमें ३० अंशसे अधिक नहीं हैं। स्वयमेव मरे हुए पशुके मांसमें भी अनगिनती जीव जन्तु पैदा होजाते हैं।

(४) मौज शौकके लिए चमड़ेकी वस्तुओंको काममें लेना व चरबी मिश्रित वस्तुओंको पहनना। चमड़े व चरबीके लिए भी अनेक पशुवध किये जाते हैं। दयावानोंको उचित है कि बेमतलब हिंसासे बचा जावे।

आरम्भी हिंसा—वह है जो आवश्यक गृहस्थके कामोंके लिये लाचार हो करनी पड़ती है। उसमें इरादा हिंसाका न होकर गृहस्थ सम्बन्धी आवश्यक कार्योंके करनेका होता है. तो भी यत्नपूर्वक आरम्भ करना चाहिए जिससे कम हिंसा हो। इस आरम्भी हिंसाके तीन प्रकार हैं:—

(१) उद्यमी हिंसा—गृहस्थीको आजीविकाके लिए असि कर्म (रक्षार्थ शस्त्र धारण), असिकर्म (लेखन आदि), कृषिकर्म, वाणिज्य, शिल्प तथा विद्या कर्म इन छः उपायोंसे आजीविका करनी पड़ती है; क्योंकि इन कार्योंके विना समाजका काम चल नहीं सकता।

(२) गृहारम्भी हिंसा—भोजन, पान, सफाई, आदि घरके कामोंमें जो हिंसा करनी पड़ती है।

(३) विरोधी हिंसा—जब कोई दुष्ट आक्रमण करे और उसके रोकनेका अहिंसात्मक उपाय न हो तो लाचार हो अपनी रक्षाके लिये शस्त्रादिका प्रयोग करना पड़ता है। इसमें जो हिंसा हो जाती है वह विरोधी हिंसा है।

इन तीन प्रकारकी आरम्भी हिंसासे गृहस्थ विरक्त नहीं हो सकता, परन्तु जितना जितना उसको वैराग्य बढ़ता है वह कम करता जाता है।

(२) सत्य अणुव्रत—गृहस्थीको सत्य बोलना चाहिये। सत्यका ही व्यवहार करना चाहिए। किसीका विश्वासघात नहीं करना चाहिए। असत्यसे अपने परिणामोंकी हिंसा होती है तथा दूसरोंको भी कष्ट प्राप्त होता है। यद्यपि आरम्भके लिए वचन कहना भी असत्य है, क्योंकि हिंसाका कारण है। तथापि ऐसे वचनोंको गृहस्थी त्याग नहीं सकता है। शेष सब प्रकारके असत्योंको त्यागना चाहिये। कठोर वचन भी असत्य है, पर पीड़ाकारी है।

(३) अचौर्य अणुव्रत—चोरीका त्याग करना भी आवश्यक है। गिरी पड़ी भूली विसरी हुई किसीकी चीजको लेना चोरी है। गृहस्थको ईमानदारीसे वर्ताव करना चाहिये जिससे अपने भाव मलीन न हों और दूसरोंको कष्ट न पहुंचे।

(४) ब्रह्मचर्य अणुव्रत—गृहस्थको अपनी विवाहिता स्त्रीमें संतोष रखना चाहिये। परस्त्री व वेश्या आदिसे बचना चाहिए, जिससे शरीरमें निर्बलता न हो। शरीरका राजा वीर्य है, उसकी रक्षासे सब शरीरकी रक्षा होती है।

(५) परिग्रहपरिमाण अणुव्रत—तृष्णाका गड्ढा अपार है, कभी पूरा नहीं होसक्ता, जैसे जैसे सम्पत्ति बढ़ती है, तृष्णा बढ़ती जाती है, जीवनका अंत होता जाता है इसलिए गृहस्थोंको एक मर्यादा बांध लेनी चाहिए, जिसके पूरे होनेपर फिर संतोषसे धर्मध्यानमें व

परोपकारमें जीवन विताना चाहिये । दश प्रकारका परिग्रह होता है उनका प्रमाण कर लेना चाहिये ।

(१) क्षेत्र (भूमि), (२) वास्तु (मकान), (३) हिरण्य (चांदी), (४) सुवर्ण (सोना व जवाहरात), (५) धन (गौ, भैंस आदि), (६) धान्य, (७) दासी, (८) दास, (९) कपड़ा, (१०) वर्तन भांड़े ।

इस तरह गृहस्थीको पांच अणुव्रत पालने चाहिये। ऐसा गृहस्थी दुनियांको दुःखदाई न होगा, किन्तु सुखदाई होगा। पापरूपी दैवका संयम न होगा। शुभ परिणामोंसे पुण्यका बंध होगा।

तीन गुणव्रत—ऊपर लिखित पांच अणुव्रतोंके मूल्यको बढ़ानेके लिये तीन गुणव्रत भी गृहस्थको पालने चाहिये।

(१) दिग्व्रत—तृष्णाको कम करनेके लिये लौकिक कामके वास्ते दश दिशाओंमें जितनी दूर जाने आनेकी व माल मंगानेकी जरूरत जान पड़े उतनी मर्यादा जन्मपर्यन्तके लिये कर लेना दिग्व्रत है।

इस व्रतसे यह लाभ होता है कि गृहस्थी क्षेत्रकी मर्यादाके भीतर ही सांसारिक काम करे उसके बाहर बिल्कुल विरक्त रहे। धर्मकामके लिए मर्यादा नहीं की जाती।

(२) देशव्रत—दिग्विरतिमें जो मर्यादा जन्मपर्यन्तके लिए की है उसमेंसे घटाकर एक दिन एक सप्ताह एक पक्ष आदि नियमित कालके लिए मर्यादा करनी देशविरति है। इससे लाभ यह होता है कि गृहस्थीका भाव थोड़े क्षेत्रके भीतर ही आरम्भ करनेका रह जाता है। उसके बाहर वह विरक्त रहता है।

(३) अनर्थदंड व्रत—गृहस्थीको विना प्रयोजन कोई पाप नहीं करने चाहिए। ऐसे पाप पांच प्रकारके होसकते हैं—

(१) अपध्यान—दूसरोंके बारेमें बुरा विचारना।

(२) पापोपदेश—बेमतलब किसीको हिंसा आदि पापोंके करनेका उपदेश देना।

(३) हिंसादान—हिंसाकारी शस्त्र आदि दूसरोंको बेमतलब मांगे देना। बहुधा हिंसक वस्तुओंसे घोर अनर्थ हो सकते हैं।

(४) दुःश्रुति—राग बढ़ानेवाली व परिणामोंमें विकार उत्पन्न करनेवाली कथाओंको पढ़ना व सुनना, नाटक खेल तमाशे देखना।

(५) प्रमादचर्या—आलस्यसे बेमतलब जमीन खोदना, पानी फेकना, आग जलाना, वनस्पति छेदना।

इस तरहसे जुआ खेलना वगैरह बे मतलब काम करके भावोंको बिगाड़ना न चाहिए। मर्यादाके भीतर भी अनर्थके काम नहीं करना चाहिए।

चार शिक्षाव्रत—गृहस्थीको आत्मोन्नतिके लिए चार शिक्षाव्रत भी पालने चाहिए. इनसे साधुके चारित्रकी शिक्षा मिलती है।

(१) सामायिक—समभाव या वीतरागभावके लाभ करनेके लिए समय अर्थात् शुद्ध आत्माका अनुभव करना सामायिक है। इससे ध्यानका अभ्यास बढ़ता है। गृहस्थीको सबेरे, दोपहर व सायंकाल तीन दफे या दो दफे या कमसे कम एक दफे एकांतस्थानमें बैठकर सामायिक करनी चाहिये।

४८ मिनट या दो घड़ी कमसे कम करना ही चाहिए। अभ्यास करनेवाला जितना समय दे सके ठीक है।

सामायिककी विधि—यह है कि मन वचन कायको शुद्ध करके किसी आसनपर सामायिक करे। पूर्व या उत्तर दिशाकी तरफ मुंह करके खड़ा हो और नौ दफे णमोकार मंत्र पढ़े; फिर दंडवत करे, फिर दूसरी दिशामें खड़ा होकर ९ दफे या तीन दफे णमोकार मंत्र पढ़े और ३ आवर्त और एक शिरोनति करे। जोड़े हुए हाथोंको बाएंसे दाहिनी तरफ घुमानेको आवर्त कहते हैं। जोड़े हुए हाथोंको मस्तक झुकानेको शिरोनति कहते हैं। खड़े हुए यदि पूरबको मुख हो तो दक्षिण दिशामें घूम जावे। यहां भी ९ दफे या ३ दफे णमोकार मंत्र पढ़कर ३ आर्वत और एक शिरोनति करे। ऐसा ही पश्चिम व उत्तरकी तरफ करे, फिर पूरबकी तरफ आकर पद्मासन बैठ जावे। कोई सामायिक पाठ संस्कृत या भाषामें पढ़े। णमोकार मंत्रका जाप देवे; बारह भावनाका विचार करे, आत्माका स्वरूप चिंतवन करे; अन्तमें खड़ा हो ९ दफे णमोकार मन्त्र पढ़कर दंडवत करे। इस तरह सामायिक बड़े शान्त भावसे पूरी करे। सवेरे व शाम अपने लगे दोषोंका भी विचार करे। सामायिक करनेसे पापोंका नाश होता है; शुभ भावोंसे पुण्यका बंध होता है।

(२) **प्रोपोधोपवास**—पर्वके दिनोंमें एक महीनेमें दो अष्टमी व दो चौदश होती हैं, इन दिनोंमें गृहस्थके कामसे निश्चिन्त होकर धर्मध्यान करे। उपवास करे। अर्थात् ३६ घण्टे आहारपानीका त्याग करे। न होसके तो पानी रखले या एकासन करे। उपवास करनेसे मन, वचन, काय और आत्माकी शुद्धि होती है; परिणामोंमें उज्ज्वलता प्राप्त होती है।

(३) **भोगोपभोगपरिमाण**—गृहस्थीको इच्छाके निरोधके लिये भोग और उपभोगके पदार्थोंका प्रतिदिन नियम कर लेना चाहिए। जो पदार्थ अभक्ष व असेवनीय हैं उनका जन्मपर्यन्त त्याग करना चाहिये। जैसे मांस, मदिरा, मधु आदि सत्तरह नियमका विचार कर लेना चाहिये। वे नियम नीचे प्रकार हैं—

(१) भोजन कितने दफे करना, (२) दूध, दही, घी तेल नमक मीठा इन छः रसोंमेंसे इच्छानुसार त्याग करना, (३) भोजन सिवाय पानी कितने दफे पीना, (४) कुंकुम आदि विलेपन लगाऊंगा या नहीं. (५) फूल सूंघूंगा या नहीं (६) तांबूल खाऊंगा या नहीं. (७) सांसारिक गीत वादित्र सुनूंगा या नहीं, (८) सांसारिक नाच देखूंगा या नहीं. (९) ब्रह्मचर्य पालूंगा, अपनी स्त्रीके साथ संसर्ग करूंगा या नहीं. (१०) स्नान कितने दफे करूंगा. (११) वस्त्र कितने रक्खे, (१२) आभूषण कितने रक्खे, (१३) सवारी कितने प्रकारकी रक्खी. (१४) बैठनेके आसन कौन कौन रक्खे. (१५) सोनेके आसन कौन २ रक्खे. (१६) फल, साग भाजी कौन २ रक्खी. (१७) खाने पीनेकी कुल वस्तु कितनी रक्खीं। गृहस्थोंको चाहिए कि सादगीसे भोग उपभोगका प्रबन्ध रक्खे जिससे कम खर्च हो और परोपकारके लिए धन बचे।

(४) **अतिथिसंविभाग**—गृहस्थका कर्तव्य है कि नित्य मुनि दान करके भोजन करे, शुद्ध रसोई तैयार करे. इसीमेंसे अतिथिको दान दे। जो भिक्षाके लिए विहार करते हैं उनको अतिथि कहते हैं। मुख्यतः वे जैन साधु हैं जो तेरह प्रकारका चारित्र पालते हैं। दान देनेके योग्य पात्र तीन प्रकारके होते हैं:—उत्तम पात्र—दिगम्बर जैन साधु.

४८ मिनट या दो घड़ी कमसे कम करना ही चाहिए। अभ्यास करनेवाला जितना समय दे सके ठीक है।

सामायिककी विधि—यह है कि मन वचन कायको शुद्ध करके किसी आसनपर सामायिक करे। पूरब या उत्तर दिशाकी तरफ मुंह करके खड़ा हो और नौ दफे णमोकार मंत्र पढ़े; फिर दंडवत करे, फिर दूसरी दिशामें खड़ा होकर ९ दफे या तीन दफे णमोकार मंत्र पढ़े और ३ आवर्त और एक शिरोनति करे। जोड़े हुए हाथोंको बाएंसे दाहिनी तरफ घुमानेको आवर्त कहते हैं। जोड़े हुए हाथोंको मस्तक झुकानेको शिरोनति कहते हैं। खड़े हुए यदि पूरबको मुख हो तो दक्षिण दिशामें घूम जावे। यहां भी ९ दफे या ३ दफे णमोकार मंत्र पढ़कर ३ आर्वत और एक शिरोनति करे। ऐसा ही पश्चिम व उत्तरकी तरफ करे, फिर पूरबकी तरफ आकर पद्मासन बैठ जावे। कोई सामायिक पाठ संस्कृत या भाषामें पढ़े। णमोकार मंत्रका जाप देवे; बारह भावनाका विचार करे, आत्माका स्वरूप चिंतवन करे; अन्तमें खड़ा हो ९ दफे णमोकार मन्त्र पढ़कर दंडवत करे। इस तरह सामायिक बड़े शान्त भावसे पूरी करे। सवेरे व शाम अपने लगे दोषोंका भी विचार करे। सामायिक करनेसे पापोंका नाश होता है; शुभ भावोंसे पुण्यका बंध होता है।

(२) **प्रोषोधोपवास**—पर्वके दिनोंमें एक महीनेमें दो अष्टमी व दो चौदश होती हैं, इन दिनोंमें गृहस्थके कामोंसे निश्चिन्त होकर धर्मध्यान करे। उपवास करे। अर्थात् ३६ घण्टे आहारपानीका त्याग करे। न होसके तो पानी रखले या एकासन करे। उपवास करनेसे मन, वचन, काय और आत्माकी शुद्धि होती है; परिणामोंमें उज्ज्वलता प्राप्त होती है।

(३) भोगोपभोगपरिमाण—गृहस्थीको इच्छाके निरोधके लिये भोग और उपभोगके पदार्थोंका प्रतिदिन नियम कर लेना चाहिए। जो पदार्थ अभक्ष व असेवनीय हैं उनका जन्मपर्यन्त त्याग करना चाहिये। जैसे मांस, मदिरा, मधु आदि सत्तरह नियमका विचार कर लेना चाहिये। वे नियम नीचे प्रकार हैं—

(१) भोजन कितने दफे करना, (२) दूध, दही, घी तेल नमक मीठा इन छः रसोंमेंसे इच्छानुसार त्याग करना, (३) भोजन सिवाय पानी कितने दफे पीना, (४) कुंकुम आदि विलेपन लगाऊंगा या नहीं, (५) फूल सूघूंगा या नहीं (६) तांबूल खाऊंगा या नहीं, (७) सांसारिक गीत वादित्र सुनूंगा या नहीं, (८) सांसारिक नाच देखूंगा या नहीं, (९) ब्रह्मचर्य पालूंगा, अपनी स्त्रीके साथ संसर्ग करूंगा या नहीं, (१०) स्नान कितने दफे करूंगा, (११) वस्त्र कितने रक्खे, (१२) आभूषण कितने रक्खे, (१३) सवारी कितने प्रकारकी रक्खी, (१४) बैठनेके आसन कौन कौन रक्खे, (१५) सोनेके आसन कौन २ रक्खे, (१६) फल, साग भाजी कौन २ रक्खी, (१७) खाने पीनेकी कुल वस्तु कितनी रक्खीं। गृहस्थोंको चाहिए कि सादगीसे भोग उपभोगका प्रबन्ध रक्खे जिससे कम खर्च हो और परोपकारके लिए धन बचे।

(४) अतिथिसंविभाग—गृहस्थका कर्तव्य है कि नित्य प्रति दान करके भोजन करे, शुद्ध रसोई तैयार करे, उसीमेंसे अतिथिको दान दे। जो भिक्षाके लिए विहार करते हैं; उनको अतिथि कहते हैं। मुख्यतः वे जैन साधु हैं जो तेरह प्रकारका चारित्र पालते हैं। दान देनेके योग्य पात्र तीन प्रकारके होते हैं:—उत्तम पात्र—दिगम्बर जैनसाधु;

मध्यमपात्र—बारह व्रतके पालनेवाले श्रावक, जघन्यपात्र—व्रतरहित श्रद्धावान गृहस्थ । इन सबको भक्तिपूर्वक दान देना चाहिए । करुणा बुद्धिसे आहार, औषधि, अभय और विद्या—चारों प्रकारका दान हरएक दुःखित मानवको व पशुको दिया जा सक्ता है । दान देना गृहस्थका मुख्य कर्तव्य है । गृहस्थको जो आमदनी हो उसका चौथा भाग, छठा भाग, आठवां भाग या कमसे कम दशवां भाग दानके वास्ते निकालना चाहिए, उसीमेंसे दान करता रहे । दान करनेकी एक सुगम रीति यह है कि एक दानका बक्स बना लिया जावे; उसमें नित्य रकम डाल दीजावे व महीनेके अन्तमें जरूरी कामोंमें खर्च कर दीजावे ।

गृहस्थोंको बारह व्रत पालने चाहिए, इनके पालनेके ग्यारह दरजे हैं; उनमें चारित्र बढ़ता जाता है । वे नीचे प्रकार हैं—

(१) **दर्शन प्रतिमा**—शुद्ध आत्माका, जीवादि तत्वोंका तथा निर्दोष देव शास्त्र गुरुओंका दोष रहित श्रद्धान रखना व अहिंसा आदि पांच अणुव्रतोंका अभ्यास करना ।

(२) **व्रत प्रतिमा**—पांच अणुव्रतोंको दोष रहित पालना ; शेष सात व्रतोंका भी अभ्यास करना ।

(३) **सामायिक प्रतिमा**—नियमसे सवेरे, दोपहर शाम सामायिक करना ।

(४) **प्रोषधोपवास प्रतिमा**—हरएक अष्टमी व चौदशको उत्कृष्ट, मध्यम अथवा जघन्य उपवास शक्तिके अनुसार करना ।

(५) **सचित्तत्याग प्रतिमा**—एक इन्द्रिय जीव सहित वस्तुको नहीं खाना । प्रासुक या गरम पानी पीना । पका हुआ फल

आदि जो जीव रहित हो खाना। वनस्पतिको प्रासुक करके काममें लाना। स्वच्छन्दतासे हरएक वस्तुको खाना पीना नहीं।

(६) **रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा**—रात्रिको भोजनपान स्वयं भी न करना न दूसरोंको कराना। रात्रिको सन्तोष रखना। अधिकतर धर्मध्यान करना।

(७) **ब्रह्मचर्य प्रतिमा**—स्वस्त्रीका भी त्याग कर पूर्णरूपसे ब्रह्मचर्य पालना। सादगीसे रहना।

(८) **आरम्भ त्याग प्रतिमा**—व्यापार आदि आरम्भ नहीं करना। जो बुलावे उसके यहां भोजन करना। इस दर्जेतकका गृहस्थ घरमें रहकर भी धर्मसाधन कर सकता है व घरको छोड़कर भी धर्म-साधन कर सकता है। धर्मकार्यका आरम्भ कर सकता है।

(९) **परिग्रह त्याग प्रतिमा**—घर संपत्तिको त्याग देना। केवल कुछ आवश्यक कपड़े व वर्तन आदि रखना। धर्मध्यानमें समय बिताना। धर्मशाला आदि एकांत स्थानमें रहना।

(१०) **अनुमति त्याग प्रतिमा**—लौकिक कार्योंमें किसीको सम्मति नहीं देना। भोजनके समय निमंत्रणसे जाना।

(११) **उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा**—अपने लिये बनाये गये भोजनको न लेना। इसके दो भेद हैं—क्षुल्लक व ऐलक। जो एक लंगोटी व चद्दर रखते हैं, पीछी कमण्डल रखते हैं, चर्या कर भोजन करते हैं व कई घरोंसे एकत्रित कर किसी एक जगह बैठकर भोजन करते हैं वे क्षुल्लक हैं। जो एक लंगोटी रखते हैं, हाथमें ग्रास लेते हुए खड़े रहकर भोजन करते हैं, केशलोंच करते हैं, मुनिके चारित्रका अभ्यास करते हैं वे ऐलक हैं।

यहांतक श्रावकका चारित्र है ।

साधुओं और श्रावक दोनोंके लिए यह आवश्यक है कि मैत्री, प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओंका चिन्तवन करें। जगतके प्राणियोंके साथ मैत्रीभाव रक्खें । सब प्राणियोंका हित विचारें; धर्मात्मा और गुणवान हों उनको देखकर व जानकर प्रसन्न हों। दीनदुःखी प्राणियोंपर दयाभाव रक्खें; उनका दुःख निवारण करें और जिनके साथ अपनी सम्मति नहीं मिलती है व जो विनयरहित हैं उनपर माध्यस्थभाव रक्खें अर्थात् उनसे न राग करें और न द्वेष ही करें । इन भावोंसे भावकी शुद्धि होती है और हिंसक भाव नहीं रहता है ।

धर्मकी वृद्धिके लिए संसारका व शरीरका स्वरूप भी विचारना चाहिए । यह संसार दुःखोंसे और तृष्णासे परिपूर्ण है । संसारकी अवस्थाएँ क्षणभंगुर हैं । यह शरीर महान अपवित्र और नाशवन्त है । संसार व शरीरके मोहमें न पड़कर आत्मकल्याणमें दृष्टि रखनी चाहिए। व्यवहार धर्म मुनि व श्रावकके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है ।

निश्चयसे धर्म आत्माका स्वभाव है । जब निश्चयसे अपने आत्माको शुद्ध ज्ञाता दृष्टा जानकर उसमें तन्मय हुआ जाता है तब आत्मानुभव प्रकट होता है । उस समय सच्ची वीतरागता होती है । उसके प्रतापसे दैव जो कर्म है उसका जोर घटता है और पुरुषार्थकी शक्ति बढ़ती जाती है। इस तरह **धर्मपुरुषार्थका साधन हर मानवको करना चाहिए ।**

अध्याय छठा।

अर्थ पुरुषार्थ।

मानवोंको शरीर आदिकी रक्षाके लिए आजीविकाकी आवश्यकता है। उसको साधन करना अर्थ पुरुषार्थ है। धर्म और शरीरके स्वास्थ्यकी रक्षा करते हुए अर्थका साधन करना चाहिए। **न्यायपूर्वक धन कमाना चाहिए।**

जो ज्ञान आदिक शक्तियां हमारेमें प्रकाशवान हैं उनसे समझके साथ अर्थके लिए उद्योग करना चाहिए।

उद्योग करनेसे ही सफलता होती है। जब कभी सफलता न हो तो पाप (अंतराय) कर्मका तीव्र उदय समझना चाहिए। विना पुरुषार्थ किए अर्थकी सिद्धि नहीं होसक्ती। कभी कभी पुण्यके तीव्र उदयसे अकस्मात् किसीको लाभ होजाए तो असंभव नहीं है; परन्तु राजमार्ग यही है कि उद्यम किया जाए। दया, सत्य, अचौर्यादि व्रतोंकी रक्षा करते हुए पैसा कमाना चाहिए।

न्यायसे प्राप्त थोड़ा धन भी अन्यायसे प्राप्त वहुत धनसे अच्छा है, क्योंकि उसमें भावोंमें निर्मलता रहती है, दूसरोंको कष्ट भी नहीं पहुंचता।

इस जगतमें लौकिक जनोंका कार्यव्यवहार जिन जिन कामोंसे निकलता है उन उन कामोंको करके आजीविकाका उद्यम करना चाहिए। ऐसे **उद्यम** छः प्रकारके हो सकते है—

लोग दैवके भरोसे पर बैठे रहते हैं वे कष्टको पाते हैं। सत्य और धर्मके साथ उद्यम करनेसे अर्थका लाभ सुखरूपसे होता है। जो लोग अन्याय और असत्यसे धन कमाते हैं यह अर्थ पुरुषार्थ नहीं है। जहां धर्मकी रक्षा की जाए वही अर्थ पुरुषार्थ है।

जगतमें बुद्धिमान पुरुष अनेक प्रकारकी युक्तियोंसे भिन्न २ प्रकारका माल बनवाते हैं और उसको स्वदेश और परदेशमें विक्रय करके संपत्तिवान होजाते हैं। धर्म पुरुषार्थको पालनेवाला संपत्तिका दुरुपयोग नहीं करता है। आवश्यक सादा जीवन बिताकर शेष धनको दूसरोंकी सेवामें लगाता है। वह अपने धनको परोपकारके अर्थ ही खर्च करना उपयोगी समझता है।

अर्थ पुरुषार्थसे लक्ष्मीका उपार्जन होता है। लक्ष्मीसे सब प्रकार काम किए जा सकते हैं इसलिए गृहस्थोंको अर्थ पुरुषार्थके साधनमें उद्योगवान होना चाहिए। जिस समयमें उद्यम किया जाए उस समयकी परिस्थितिको जानकर अर्थ पुरुषार्थका साधन करना चाहिए। देश-कालपर दृष्टि रखनी चाहिए। सम्पत्ति पानेपर भी गृहस्थीको उद्यम करना चाहिए। धनके बिना गृहस्थीका जीवन विधवाके समान है। दरिद्रता उत्साहको तोड़ देती है और तब उसे सत्यवादी और न्याय-वान रहना कठिन हो जाता है। इसलिए अर्थ पुरुषार्थ करना जरूरी है।

सम्बन्ध नहीं रहता । शुद्ध सुवर्णके समान वे परम शुद्ध बने रहते हैं । वे आत्मीक आनंदमें मग्न रहते हैं । सच्चा आत्मीक स्वभाव झलक जाता है, आत्माके सर्वगुण प्रकाशवान होजाते हैं । उनमें अनंत-दर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य, अनंत सुख, परम शांत, शुद्ध सम्यक्त आदि गुण प्रगट होजाते हैं । वे सिद्ध भगवान जैन सिद्धांतानुसार जहांसे सिद्ध होते हैं वहांसे सीधे ऊपर जाकर लोकाग्रमें विराजमान होजाते हैं ।

सिद्ध भगवानका आकार पूर्व शरीर जैसा था वैसा रह जाता है । कर्मके उदय विना घटता बढ़ता नहीं है । अमूर्तीक होनेपर भी वे साकार हैं, निर्वाणके भोक्ता हैं । सिद्ध भगवानको कभी भी कोई चिन्ता नहीं होती है । वे सदा ही स्व रूपमें तृप्त रहते हैं ।

धर्म पुरुषार्थके द्वारा पुरुषार्थी आत्मा मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध कर लेते हैं । दैव और पुरुषार्थके युद्धमें पुरुपार्थकी विजय होजाती है । इससे सबको चाहिये कि मोक्ष पुरुषार्थको लक्ष्यमें लेकर सदा पुरुपार्थी बने रहें । दैवके आधीन रहकर कभी आलसी न हों । आलस्यमें रहनेसे दैवकी विजय होती है, दैवको अपना ही कार्य मानकर उसका संहार कर देना चाहिए ।

धन्य हैं वे महात्मा जो मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं । उनको और मोक्षपुरुषार्थको बारबार नमस्कार है ।

लखनऊ
ता० १४–१०–४० } —ब्र० सीतल ।